



श्रीमद्यामुनाचार्यस्वामिविरचितः

# गीतार्थसङ्ग्रहः

श्रीवेदान्तदेशिकानुगृहीत-गीतार्थसङ्ग्रहरक्षासंवलितः

हिन्दीव्याख्याकारः

गोविन्दाचार्यः

श्रीमद्भगवद्गीता पर जगद्गुरु श्रीरामानुजा-  
चार्य स्वामीजी ने अद्भुत, मनोरम एवं  
भावगम्भीर किन्तु सरलभाषा में भाष्य का  
प्रणयन किया है। इससे भी पूर्व परमाचार्य  
श्रीयामुनाचार्य स्वामीजी महाराज ने गीता के  
अठारह अध्यायों का सार केवल बत्तीस  
श्लोकों में संग्रह कर उसे गीतार्थसंग्रह का  
स्वरूप दिया है। इसमें एक-एक श्लोक से  
प्रत्येक अध्याय का रहस्यार्थ बताकर अन्य  
श्लोकों से कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति,  
ऐकान्तिक एवं परमैकान्तिक भक्तों के  
स्वरूप तथा भगवान् के वास्तविक स्वरूप  
का वर्णन किया गया है। इस प्रकार अत्यन्त  
साररूप में गीता के गम्भीर भावों को इस  
तरह से संगृहीत किया है जैसे गागर में  
सागर। उक्त गीतार्थसंग्रह पर श्रीवेदान्त-  
देशिक स्वामीजी ने गीतार्थसंग्रहरक्षा नाम  
से बहुत सुन्दर व्याख्या लिखी है, जिसमें  
गीतार्थसंग्रह के गम्भीर भावों का प्रस्फोरण  
तो किया ही है साथ ही श्रीरामानुजभाष्य के  
अनुरूप संग्रह के वर्ण्य विषय का  
स्पष्टीकरण भी किया है। रक्षा के बिना  
संग्रह का भावोद्घाटन होना कठिन है तथा  
रक्षा सहित गीतार्थसंग्रह नामक इस छोटे  
ग्रन्थ से गीता के समग्र रहस्य को हृदयंगम  
करना बहुत सुलभ हो जाता है। रक्षा-सहित  
गीतार्थसंग्रह हिन्दी व्याख्या पाठकों के  
सौविध्य प्रस्तुत है।



॥ श्रीः ॥  
चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला  
557  
❀❀❀

श्रीमद्यामुनाचार्यस्वामिविरचितः  
**गीतार्थसङ्ग्रहः**  
श्रीवेदान्तदेशिकानुगृहीतः  
गीतार्थसङ्ग्रहरक्षासंवलितः

हिन्दीटीकाकारः  
गोविन्दाचार्यः

**VANDANA BOOK HOUSE**  
Dealers in : Philosophical  
Religious & Sanskrit Books  
No. 24/1, 4th Main, 9th Cross,  
N. R. Colony, BANGALORE - 560 019



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन  
वाराणसी

© सर्वाधिकार सुरक्षित । इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण या किसी भी विधि (जैसे- इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

## गीतार्थसङ्ग्रहः-गोविन्दाचार्य

ISBN : 978-93-82443-45-2

प्रकाशक :

### चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के 37/117 गोपाल मन्दिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129

वाराणसी 221001

दूरभाष : (0542) 2335263

e-mail : csp\_naveen@yahoo.co.in

website : www.chaukhamba.co.in

### © सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : 2013

₹ 300

वितरक :

### चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2 ग्राउण्ड फ्लोर, गली न. 21-ए

अंसारी रोड़, दरियागंज

नई दिल्ली 110002

दूरभाष : (011) 32996391, टेलीफैक्स : 23286537

e-mail : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

\*

अन्य प्राप्तिस्थान :

### चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर

पोस्ट बॉक्स न. 2113

दिल्ली 110007

\*

### चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)

पोस्ट बॉक्स न. 1069

वाराणसी 221001

मुद्रक :

डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली,

## आत्म-निवेदन

भारतवर्ष ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के जनमानस को ज्ञान से आप्लावित करती हुयी श्रीमद्भगवद्गीता एक अध्यात्मशास्त्र है, जो कि स्वयं अखिलकोटिब्रह्माण्डनायक लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा अनादिकाल से भवसागर में जन्ममरण के चक्र में भ्रान्त जीवों को अभिलक्षित करके उनके उद्धारार्थ युद्ध से पलायनोन्मुख अर्जुन का बहाना बनाकर उपनिषद् (वेदान्तशास्त्र) के गूढतम तत्त्वों के साथ उपदिष्ट है। लगभग ७०० सुन्दर पद्यों से समलंकृत श्रीमद्भगवद्गीता पर जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी ने अद्भुत, मनोरम एवं भावगम्भीर किन्तु सरलभाषा में भाष्य का प्रणयन किया है। इससे भी पूर्व परमाचार्य श्रीयामुनाचार्य स्वामीजी महाराज ने गीता के अठारह अध्यायों के सात सौ श्लोकों का सार केवल बत्तीस श्लोकों में संग्रह कर उसे उसे **गीतार्थसंग्रह** का स्वरूप दिया है। इसके प्रथमश्लोक में गीताजी के द्वारा प्रतिपाद्य विषय का निरूपण किया गया है और उससे आगे तीन श्लोकों से गीता के तीन षट्कों (छह-छह अध्यायों) का सारसंग्रह किया गया है। उसके बाद एक-एक श्लोक से प्रत्येक अध्याय का सारसंग्रह किया गया है। इस तरह केवल बाईस श्लोकों से गीतार्थ का संग्रह करके शेष दस श्लोकों से कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति, ऐकान्तिक एवं परमैकान्तिक भक्तों के स्वरूप तथा भगवान् के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस प्रकार अत्यन्त साररूप में श्रीस्वामीजी ने केवल ३२ श्लोकों से गीता के गम्भीर भावों को इस तरह से संगृहीत किया है जैसे **गांगर में सागर**। गीतार्थसंग्रह के अन्त में **इति गीतार्थसंग्रहः** इस वाक्य से श्रीस्वामी जी स्वाभिप्राय प्रकट करते हैं कि जो विषय गीतार्थसंग्रह में उपस्थापित किया गया है, वह ही सत्त्वनिष्ठ सम्प्रदायानुगुण आचार्यपरम्परा से प्राप्त समीचीन गीतार्थ है तथा अपनी योगमहिमा के द्वारा सम्पूर्ण याथातथ्येन ज्ञान कर लिया है उस परमपुरुष की दोनों विभूतियों को जिन्होंने, ऐसे नाथमुनि स्वामी जी की आज्ञा का अनुसरण करने वाले श्रीराममिश्रस्वामी जी की सन्निधि से अनेक शास्त्रों का ज्ञान करके हमने बहुत बार सुने हुये और बहुत अभ्यास किये हुये भगवद्-गीता के अर्थ-विस्तार का संग्रह किया है, अतः यह मुमुक्षुजनों द्वारा सावधान होकर संग्रह करने योग्य है।

गीताभाष्य में श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी ने गीतार्थसंग्रह के भावों को तत्र-तत्र स्पष्टतया दिखाया है। गीता के रहस्यार्थ को विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त की दृष्टि से समझने के लिये इससे छोटा और सरल ग्रन्थ नहीं है। उक्त **गीतार्थसंग्रह** पर श्रीवेदान्तदेशिक स्वामीजी ने **गीतार्थसंग्रहरक्षा** नाम से बहुत सुन्दर व्याख्या लिखी

है, जिसमें गीतार्थसंग्रह के गम्भीर भावों का प्रस्फोरण तो किया ही है साथ ही श्रीरामानुजभाष्य के अनुरूप संग्रह के वर्ण्य विषय का स्पष्टीकरण भी किया है। रक्षा के बिना संग्रह का भावोद्घाटन होना कठिन है तथा रक्षा सहित गीतार्थसंग्रह नामक इस छोटे ग्रन्थ से गीता के समग्र रहस्य को हृदयंगम करना बहुत सुलभ हो जाता है। यद्यपि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीवेदान्तदेशिकस्वामी जी की ग्रन्थभाषा क्लिष्ट होती है तथापि रक्षा में आपकी व्याख्याशैली भावगम्भीर होते हुए सरल भी है। रक्षासहित गीतार्थसंग्रह का अध्ययन करने पर पता चलता है कि हमारे पूर्वाचार्यों की परमात्मा और तत्प्रतिपादक शास्त्रों के सन्दर्भ में कितनी उदात्तदृष्टि थी। वाद की दृष्टि से भी रक्षासहित संग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अत एव अन्त में श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी जी लिखते हैं- 'यह गीतार्थसंग्रह अर्जुन के सारथी बने भगवान् श्रीकृष्ण के वचनामृत का सार है, जिसे श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी महाराज ने गीतार्थसंग्रह के रूप में उद्धृत किया है। मुझ वेंकटेश्वर कवि (वेदान्तदेशिक) के द्वारा भाष्यानुसार स्पष्ट शब्दों में इसकी व्याख्या गीतार्थसंग्रहरक्षा नाम से की गयी है। कुदृष्टियों के बाह्य अज्ञान-अन्धकार रूप कोलाहलपूर्ण वादों को आन्दोलित करके उन पर विजय पाने के कारण जय-जय की घोषणाओं से परिपूर्ण सिद्धान्त तर्क के द्वारा सभी दिशाएँ उज्ज्वलित हो जाती हैं।'

इस दास ने तो गीतार्थसंग्रह पर उक्त गीतार्थसंग्रहरक्षा के अनुरूप यथाधीतं यथामति के अनुसार लोकभाषा हिन्दी में शब्दों का विन्यास मात्र किया है, कुछ नवीन नहीं है और यह व्याख्या भी नहीं। फिर भी आशा है कि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ जिज्ञासुओं को विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायानुरूप श्रीमद्भगवद्गीता का सारार्थ समझने के लिये यह अवश्य उपकारक होगा तथा इसके द्वारा उनको भी लाभ होगा, जो इस सिद्धान्त के जिज्ञासु विद्यार्थी हैं। अतः गीतार्थसंग्रहरक्षा मूल के साथ हिन्दी में उसका अनुवाद दिया जा रहा है। अन्त में श्लोकपारायणार्थ गीतार्थसंग्रह के सभी श्लोक भी एकत्र दिये गये हैं।

शीघ्र ही श्रीरामानुज-सहस्राब्दि महोत्सव का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है, उसके लिये दास का यह छोटा सा कैक्य है। एवमेव श्रीसम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थ वेदान्तसार, वेदान्तदीप, गीताभाष्य, श्रीभाष्य आदि का भी हिन्दीरूपान्तरण हो चुका है और अन्य वेदान्तग्रन्थों के लेखन, अध्ययन-अध्यापन कार्य निरन्तर चल रहे हैं। यावज्जीवन इसी तरह के कैक्य प्राप्त होते रहें, यही भगवान् से प्रार्थना है।

श्रीमद्भगवद्भागवताचार्यविधेयः-

**गोविन्दाचार्यः**

श्रीरामानुज-जयन्ती २०६९

मई, सन् 2012

# विषयसूची

श्लोक	विषय	पृष्ठ
१.	गीताद्वारा प्रतिपाद्य मुख्य विषय भगवान् श्रीमन्नारायण	१
२.	पूर्वषट्क का प्रतिपाद्य विषय	२१
३.	मध्यम षट्क का प्रतिपाद्य विषय	२५
४.	अन्तिम षट्क का प्रतिपाद्य विषय	२९
५.	प्रथमाध्याय में श्रवणाधिकारी-अर्जुनदशावर्णनपूर्वक शास्त्रावतरण	३३
६.	द्वितीयाध्याय में अर्जुन के मोह का शमन	३७
७.	तृतीयाध्याय में कर्मयोग की अनिवार्य कर्तव्यता का वर्णन	३९
८.	चतुर्थाध्याय में कर्मयोग के अवान्तरभेदों का वर्णन	४५
९.	पञ्चमाध्याय में कर्मयोग के अन्तर्गत ज्ञानविपाक दशा का वर्णन	४९
१०.	षष्ठाध्याय में योगाभ्यास की विधि	५३
११.	सप्तमाध्याय में प्रतिबुद्ध योगी का प्राधान्य	५८
१२.	अष्टमाध्याय में अधिकारों से जानने योग्य उपादेय का विभाग	६२
१३.	नवमाध्याय में अंगों सहित भक्तियोग का वर्णन	६४
१४.	दशमाध्याय में भगवान् की विभूतियों की अनन्तता	६६
१५.	एकादशाध्याय में विश्वरूप-दर्शन	६८
१६.	द्वादशाध्याय में भक्ति का आरोहणक्रम	७०
१७.	त्रयोदशाध्याय में विशुद्ध क्षेत्रज्ञ का विज्ञान	७२
१८.	चतुर्दशाध्याय में सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों का विशोध्य	७४
१९.	पञ्चदशाध्याय में भगवान् पुरुषोत्तम का वैलक्षण्य वर्णन	७८
२०.	षोडशाध्याय में जीव की शास्त्रवश्यता का विचार	८०
२१.	सप्तदशाध्याय में विविध शास्त्रीय विषयों का विवेचन	८१
२२.	अष्टादशाध्याय में श्रीमद्भगवद्गीता का सार	८२
२३.	कर्मयोग और ज्ञानयोग के लक्षण	८९
२४.	भक्तियोग का लक्षण और कर्म-ज्ञान-भक्ति का अन्योन्यसंगम	९१
२५.	कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग ये तीनों ही परमात्मा की आराधना	९२
२६.	पराभक्ति द्वारा ही भगवत्पदप्राप्ति का वर्णन	१०१
२७.	भक्तियोग से ऐश्वर्य, आत्मा और भगवत्प्राप्ति का वर्णन	१०४
२८.	भगवद्भक्ति में अनन्यता की परमावश्यकता	१०९
२९.	परमैकान्ती ज्ञानी भक्तों का विश्लेषण	१११
३०.	भगवद्ध्यान, योग आदि द्वारा लब्धात्मा के लक्षण	११४
३१.	कर्मयोगादि मोक्षोपाय नहीं हैं अपितु उनसे प्रसन्न भगवान् ही उपाय हैं	११६
३२.	भगवत्पदप्राप्ति का प्रतिपादक गीताशास्त्र	१२१

## स्वाचार्येभ्यः श्रीश्रीनिवासमुक्तिनारायणरामानुजयतिभ्यो नमः

श्रीमन्तं श्रीधरं शान्तं षडाचार्यं यतिं गुरुम्। श्रीनिवासं मुक्तिनारायणं रामानुजं भजे॥११॥  
मदीयभावनोद्धानसरोजपुष्परूपिणम्। मादृशानन्ददातारं मन्दस्मितमुखं भजे॥१२॥  
उभाभ्यां करपद्माभ्यां शालग्रामशिलार्चने। निरताय सुवन्द्याय श्रीनिवासाय मङ्गलम्॥१३॥  
भयाप्तानां च जीवानां कल्याणाय विहारिणे। जगद्रक्षावताराय शेषांशयास्तु मङ्गलम्॥१४॥  
यमानां नियमानां च धारकाय तपस्विने। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तवर्द्धकाय नमोऽस्तु ते॥१५॥  
वेदानां वैदिकानां च वेदाङ्गानां च वैभवम्। सुस्थिरीकर्तृकामाय नित्यसक्ताय मङ्गलम्॥१६॥  
दान्ताय सुशरण्याय प्रपन्नार्तिहराय च। रहस्यत्रयसिद्धान्तव्याख्यात्रे तेऽस्तु मङ्गलम्॥१७॥  
तापत्रयेण दग्धानां जनानां रक्षणाय च। जगद्विष्णुमयं कर्तुं धृतव्रताय मङ्गलम्॥१८॥  
चारित्र्यशुभ्रवस्त्राय भक्तिभूषाय योगिने। विशुद्धवपुषे मुक्तिनारायणाय मङ्गलम्॥१९॥  
यतीश्वरगुरुश्रीमद्रामानुजमुनिः सुधीः। तत्सिद्धान्तप्रतिष्ठार्थं धृतव्रतमहं भजे॥२०॥  
श्रीमत्परमहंसाय विदुषे सौम्यरूपिणे। परिव्राजकवर्याय वीतरागाय मङ्गलम्॥२१॥  
श्रीमते वेदमार्गस्य प्रतिष्ठापनशालिने। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तविस्तारकाय मङ्गलम्॥२२॥  
निदानं शास्त्रज्ञानस्य मुक्तिनाथस्य सेवकम्। श्रीरङ्गवेङ्कटेशस्य प्रतिष्ठाकारकं नुमः॥२३॥  
वादवेद्यां च संस्थाय संवादकारिणं गुरुम्। श्रुत्यन्तसिद्धसद्वादस्थापकं देशिकं नुमः॥२४॥  
सप्ताङ्गनवचन्द्राब्दे कृष्णे भौमे शुभे दिने। कर्कटे पूर्वभाद्रायां प्रादुर्भूतं गुरुं भजे॥२५॥  
मुक्तिनाथार्चनरते। मुक्तिमार्गप्रकाशकः। मुक्तिक्षेत्रविकासाय निरतः श्रीधरः सुधीः॥२६॥  
तिष्ठन् पूर्वं ब्रह्मचर्ये ततो गृही ततो वनी। अन्ते संन्यासधर्मेण संयुक्तः श्रीधरो गुरुः॥२७॥  
नाङ्गिलवाङ्ग्रामवास्तव्यशालग्रामगुरोस्ततः। अधीतशब्दशास्त्रं तं श्रीधरार्यं गुरुं भजे॥२८॥  
रामानुजसुसिद्धान्तविद्वद्गोपालसूरितः। रहस्यग्रन्थज्ञात्रे ते श्रीधरार्याय मङ्गलम्॥२९॥  
यतित्रिदण्डसम्प्राप्तं शठकोपमुनीश्वरात्। गण्डकीसेवमानं श्रीमुक्तिनारायणं भजे॥३०॥  
णत्वं वै चाष्टमे यत्र शब्दशास्त्रं च पाणिनेः। तत्सर्वस्वसुविज्ञाय श्रीधरार्याय मङ्गलम्॥३१॥  
रामानुजयतीन्द्राय विष्णुलोकप्रदायिने। सर्वतन्त्रस्वतन्त्राय शेषांशयास्तु मङ्गलम्॥३२॥  
मातुर्लक्ष्म्याश्च देव्यास्तु कृपापात्राय योगिने। कमनीयस्वरूपाय स्वामिने मङ्गलं शुभम्॥३३॥  
नुवन्ति चरणाम्भोजं यस्य नित्यं मनीषिणः। प्राप्यप्रापकरूपाणां निर्धारकाय मङ्गलम्॥३४॥  
जगदाचार्यभूताय दिव्यज्ञानप्रदायिने। मादृशानन्ददात्रे ते श्रीनिवासाय मङ्गलम्॥३५॥  
जीवाम कृपया यस्य जगन्मङ्गलदायिनः। जगद्रक्षावताराय श्रीधरार्याय मङ्गलम्॥३६॥  
यतीश्वरं सुविद्वांसं श्रीनिवासं च श्रीधरम्। मुक्तिनारायणं धन्यं प्रणमामि पुनःपुनः॥३७॥  
रम्यास्ते वेदवेदान्तशास्त्रतत्त्वविचक्षणाः। रहस्यग्रन्थबोधार्थं लोकभाषाविधायिनः॥३८॥  
स्वामिने दिव्यरूपाय शेषांशाय महात्मने। नितान्तनिर्मलस्वान्तःकरणायास्तु मङ्गलम्॥३९॥  
मितवागपि बहुधा ज्ञानदानविचक्षणः। सुशिष्यसंग्रहपरः वेदविच्छ्रीधरो गुरुः॥४०॥  
नम्याय साधुवर्याय ब्रह्मज्ञानयुताय च। त्रिदण्डधारिणे तेऽस्तु कवीश्वराय मङ्गलम्॥४१॥  
भवन्ति नित्यं सच्छास्त्रनिदिध्यासपरायणाः। श्रुतिस्मृतिरहस्यविन्मणिमालासुमेरुवत्॥४२॥  
जेतारः सर्ववादिषु श्रीधराचार्यदेशिकाः। तत्कृपातः कृता हिन्दी गीतार्थसङ्ग्रहे मया॥४३॥



श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतः

## गीतार्थसङ्ग्रहः

यत्पदाम्भोरुहध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः।

वस्तुतामुपयातोऽहं यामुनेयं नमामि तम्॥

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः।

नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः॥१॥

श्रीमद्वेदान्तदेशिकविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा

श्रीमान् वेङ्कटनाथार्यः कवितार्किककेसरी।

वेदान्ताचार्यवर्यो मे सन्निधत्तां सदा हृदि॥१॥

मानत्त्वं भगवन्मतस्य महतः पुंसस्तथा निर्णयः,

तिस्रः सिद्धय आत्मसंविदखिलाधीशानतत्त्वाश्रयाः।

गीतार्थस्य च सङ्ग्रहः स्तुतियुगं श्रीश्रीशयोरित्यमून्

यद्ग्रन्थाननुसन्दधे यतिपतिस्तं यामुनेयं नुमः॥२॥

श्रीमद्वेङ्कटनाथेन यथाभाष्यं विधीयते।

भगवद्यामुनेयोक्तगीतासङ्ग्रहरक्षणम्॥३॥

.....  
श्लोकार्थः- स्वधर्म=शास्त्रोक्त भगवच्छेषत्वप्रयुक्त वर्णाश्रमोचित  
स्वधर्मपालनरूप कर्मयोग, ज्ञान=ज्ञानयोग और वैराग्य=वैराग्य से, साध्य=  
सिद्ध होने वाली, भक्ति>=जो भक्ति, तादृश एकगोचरः=केवल एकमात्र  
भक्ति से प्राप्य, परं ब्रह्म=परब्रह्म, नारायणः=श्रीमन्नारायण भगवान् ही,  
गीताशास्त्रे=गीताशास्त्र में, समीरितः=सम्यक् प्रकार से प्रतिपादित किये  
गये हैं।

तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः।

तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः परः॥

(म.भा.शा.मो.ध.३४७.८३)

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।

इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥ (ना.सि.पु.१८.३४)

गीतार्थसंग्रहरक्षाकार श्रीवेदान्तदेशिक स्वामीजी ने तीन श्लोकों से मंगलाचरण किया है-

कवियों एवं तार्किकों में सिंह अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कवि एवं सर्वश्रेष्ठ तार्किक, वेदान्त-शास्त्रमर्मज्ञ श्रीमान् वेङ्कटनाथार्य नाम से प्रसिद्ध श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी जी सदा मेरे हृदय में विद्यमान रहें॥१॥

परमाचार्य श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी ने आठ ग्रन्थों का प्रणयन किया है-

१. भगवन्मत्तस्य मानत्वम्=भगवान् के विषय में प्रमाणभूत आगमप्रामाण्यम्,  
२- महतः पुंसः निर्णयः=परतत्त्वनिर्णय करने वाला महापुरुषनिर्णयः,  
३-५. आत्मसंविदखिलाधीशानतत्त्वाश्रयाः तिस्रः सिद्धयः=आत्मसिद्धि, सवित्सिद्धि और ईश्वरसिद्धि पर आश्रित तीन ग्रन्थ सिद्धित्रयम्, ६. गीतार्थस्य च संग्रहः=श्रीमद्भगवद्गीता का सम्प्रदाय के अनुकूल विशेष अर्थ का प्रतिपादन करने वाला गीतार्थसंग्रहः और ७.८- श्रीश्रीशयोः स्तुतियुगम्=श्रीलक्ष्मी जी एवं श्रीमन्नारायण भगवान् की स्तुति के रूप में स्तोत्रयुगल श्रीवरदवल्लभास्तोत्र (चतुःश्लोकी) और श्रीस्तोत्ररत्नम् (आलवन्दारस्तोत्र)। जिनके द्वारा विरचित उक्त आठ ग्रन्थों का विशेष अनुसन्धान यतिपति श्रीरामानुज स्वामी जी ने किया था, ऐसे श्रीयामुनाचार्य स्वामी महाराज को प्रणाम करता हूँ॥२॥

परमाचार्य श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी द्वारा विरचित गीतार्थसंग्रह पर श्रीमद्भगवद्गीता-रामानुजभाष्य का आधार लेकर मुझ वेदान्तदेशिक द्वारा रक्षा नामक व्याख्या लिखी जा रही है॥३॥

इस तरह तीन श्लोकों से मंगलाचरण करके अब श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी जी गीतार्थसंग्रहरक्षाग्रन्थ का आरम्भ करते हैं।

तत्त्वम्। महाभारत में कहा गया है कि सब प्रकार के हेतुओं (प्रमाणों) के साथ यथार्थ तत्त्व जानने की इच्छा रखने वाले जिज्ञासु उपासकों को जानना चाहिये कि महायोगी श्रीहरि परमपुरुष भगवान् श्रीमन्नारायण ही एकमात्र तत्त्व हैं।

इत्यादिभिस्तत्त्वहितरूपं समस्ताध्यात्मशास्त्रार्थसारं महर्षयः सञ्जगृहुः। तदेतदुभयं सर्वोपनिषत्सारसङ्कलनात्मिकायां भगवद्गीतायां प्रतिपाद्यतया प्रदर्शयन् तत्राप्युपनिषदां तत्त्वप्राधान्यस्य शारीरके सूत्रितत्वादिहापि तत्प्रधानतया व्यपदिशति।

स्वे धर्माः स्वधर्माः, स्ववर्णाश्रमनियतशास्त्रार्थाः, 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गीता-१८.४५) इति हि गीयते। स्वस्य धर्म इति समासेऽप्ययमेवार्थः।

.....  
**आलोढ्य।** इसी तरह नारसिंहपुराण में कहा गया है कि समस्त शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन करने के बाद बारम्बार विचार करने पर यही एक सार निष्पन्न होता है कि भगवान् श्रीमन्नारायण ही ध्यान करने योग्य हैं अर्थात् तत्त्वजिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं के लिये केवल भगवान् श्रीमन्नारायण ही ध्येय और उपास्य हैं।

उपर्युक्त दो श्लोक तो यहाँ उदाहरणार्थ दिये गये गये हैं किन्तु एतादृश असंख्य वाक्यों से तत्त्व और हित रूप समस्त अध्यात्मशास्त्रों का सार महर्षियों ने संगृहीत किया है। ध्येय, ज्ञेय, प्राप्य परमात्मा ही परमतत्त्व हैं और उनकी प्राप्ति का उपाय हित है। उक्त दोनों तत्त्व और हित का ही समस्त उपनिषदों के सारसंग्रहभूत श्रीमद्भगवद्गीता में वेदव्यास जी ने प्रतिपाद्य विषय के रूप में दिखाया है। उपनिषदों के प्रधान प्रतिपाद्य तत्त्व को शारीरकग्रन्थ ब्रह्मसूत्र में सूत्रों के द्वारा प्रतिपादन करने के कारण इस गीतार्थशास्त्र में श्री यामुनाचार्य स्वामी जी अपने द्वारा विरचित गीतार्थसंग्रह में उसी तत्त्व को ही प्रधानतया निर्देश करते हुए कहते हैं- स्वधर्मज्ञानवैराग्य.....गीताशास्त्रे समीरितः इत्यादि।

अब गीतार्थसंग्रहस्थ स्वधर्म शब्द के अर्थ पर विचार कर रहे हैं- शास्त्रों में निश्चित वर्ण एवं आश्रम के धर्म ही स्वधर्म हैं। जैसा कि गीता में भी कहा गया है कि अपने-अपने धर्मों में लगे हुये मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करते हैं। स्वे धर्माः ऐसा कर्मधारय समास हो या स्वस्य धर्माः ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास हो, दोनों अवस्थाओं में स्वधर्म-शब्द का अर्थ है- शास्त्रोक्त वर्णाश्रमोचित धर्म। अर्थात् मूलश्लोक के स्वधर्म शब्द में दो प्रकार से समास हो सकता है- कर्मधारय और षष्ठीतत्पुरुष। दोनों ही समासों में स्वधर्म-शब्द का अर्थ है- शास्त्रों में निश्चित

ज्ञानम्- अत्र परशेषतैकरसयथावस्थितात्मविषयम्।

वैराग्यम्- परमात्मव्यतिरिक्तेषु सर्वेषु विरक्तिः। 'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि' (नारदपरिव्राजकोपनिषद्-३) इति मुमुक्षोः स्वभावप्रतिपादनात्। तथा च पातञ्जलयोगानुशासनसूत्रम्- 'दृष्टानुश्रविक-विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति। कर्मयोगपरिकरभूतस्यापि वैराग्यस्य पृथगुपादानमपवर्गस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन तत्प्राधान्य-ज्ञापनार्थं कन्दभूतरागनिवृत्त्या तन्मूलक्रोधादिसमस्तदोषनिवृत्तिज्ञापनार्थञ्च।

.....  
तत्तत् वर्णों के अनुसार वर्णधर्म और आश्रमधर्म। तात्पर्य यह है कि भगवच्छेषत्वप्रयुक्त कर्म ही स्वधर्म है। तत्त्वभूत भगवान् श्रीमन्नारायण केवल भक्ति से लभ्य हैं और कर्मयोग, ज्ञानयोग और वैराग्य से भक्ति साध्य है। इस तरह श्लोकोक्त स्वधर्म-शब्द का विवेचन किया गया।

**ज्ञानम्।** अब मूलश्लोकस्थ ज्ञान शब्दार्थ पर विचार कर रहे हैं। यहाँ पर ज्ञान-शब्द का अर्थ है- यह जीव परब्रह्म भगवान् श्रीमन्नारायण की शेष वस्तु है और परमात्मा इसके शेषी हैं। परमात्मा के साथ समस्त जीवों का स्वस्वामिभावसम्बन्ध है। अपने को परमात्मा का शेष समझना ही जीव का यथार्थस्वरूप है। परमात्मा की शेषता को **परशेषता** कहते हैं और इस तरह की परशेषता रूप एकमात्र रस वाले यथावस्थित आत्मतत्त्व विषयक ज्ञान को ही गीतार्थसंग्रह के प्रथम श्लोक में **ज्ञान** कहा गया है। जीव परमात्मा का शरीर है और परमात्मा जीव के शरीरी है। जीव शेष है और परमात्मा शेषी हैं। जीव स्व है और परमात्मा स्वामी। इस तरह जीवात्मा को परमात्मा का शेष मानते हुये अपने शेषी से प्राप्त करने योग्य समस्त उपायों को जानना यही ज्ञान-शब्द का तात्पर्य है।

**वैराग्यम्।** अब मूलश्लोकस्थ वैराग्य शब्दार्थ पर विचार कर रहे हैं- परमात्मा से भिन्न समस्त पदार्थों में विरक्ति होना वैराग्य कहा जाता है। यह ही मुमुक्षु का स्वरूप बताया गया है। नारदपरिव्राजकोपनिषत् में कहा भी गया है कि जो परमात्मा में अनुरक्त है और अपरमात्मा (परमात्मा से भिन्न वस्तुओं) में रक्त नहीं है, उसे **विरक्त** कहते हैं। इसी तरह पतञ्जलि द्वारा विरचित योगसूत्र में कहा गया है कि प्रत्यक्ष और शास्त्र के द्वारा प्राप्त विषयों में जो वितृष्ण हुये व्यक्ति को अपने वशीकार का नित्य ज्ञान बने रहना अर्थात् मेरा मन कहीं भी विचलित नहीं है, किसी भी सांसारिक वस्तु के लिये आशान्वित नहीं है, इस तरह ज्ञान का

तत्र स्वधर्मज्ञानयोः प्रथमं कर्मयोगज्ञानयोगरूपेणावस्थितयो-  
रात्मसाक्षात्कारद्वारा भक्तियोगाधिकारनिर्वर्तकत्वेन तत्साधकम्।  
तदभिप्रायेणोक्तमात्मसिद्धौ 'उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिक-  
भक्तियोगलभ्यः' इति। उत्पन्नभक्तियोगानामपि विशदतमप्रत्यक्षसमानाकारस्य  
तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्ततिरूपस्य आप्रयाणादनुवर्तनीयस्य अहरहर-

.....  
यथार्थतया बने रहना, इन्द्रिय मेरे वश में हैं और मैं इन्द्रिय के वश में नहीं हूँ, यह  
संज्ञा बने रहना ही वशीकारसंज्ञा है और उसे ही वैराग्य कहते हैं। यद्यपि वैराग्य  
कर्मयोग का परिकर (करण, उपकरण, साधन) है, अतः स्वधर्म शब्द से  
प्रतिपादित कर्म में भी उसका अन्तर्भूत हो सकता है, फिर भी श्रीयामुनाचार्य स्वामी  
जी ने स्वधर्म के कथन के बाद वैराग्य का कथन किया है, उसका यह तात्पर्य  
है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिये वैराग्य का अन्वय और व्यतिरेक अनुविधायी है  
अर्थात् वैराग्य के रहते मोक्ष सिद्ध होना और वैराग्य के अभाव में मोक्ष का सिद्ध  
न होना। इस तरह से वैराग्य की प्रधानता प्रतिपादन करने के लिये और  
कन्दभूत=मूल जड़ राग की निवृत्ति द्वारा रागमूलक क्रोध आदि समस्त दोषों की  
निवृत्ति का ज्ञान कराने के लिये वैराग्य अनिवार्य है। इसी बात को जताने के  
ज्ञान-शब्द के अतिरिक्त वैराग्य शब्द का पृथक् कथन किया है। इस तरह  
मूलश्लोकस्थ ज्ञान और वैराग्य का निरूपण किया गया।

मूलश्लोक से कहा गया कि भक्तियोग की सिद्धि स्वधर्म (कर्मयोग),  
ज्ञानयोग और वैराग्य से होती है अर्थात् भक्ति कर्म, ज्ञान और वैराग्य से साध्य है।  
अब आगे कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तियोग के साधक कैसे होते हैं, इसका  
विवेचन कर रहे हैं-

तत्र स्वधर्मज्ञानयोः। कर्मयोग और ज्ञानयोग के रूप में अवस्थित स्वधर्म  
और ज्ञान भक्तियोग के साधन हैं। वे आत्मसाक्षात्कार (आत्मावलोकन) द्वारा  
भक्तियोग में अधिकार प्राप्त कराते हैं। अत एव स्वधर्म (कर्मयोग) और ज्ञान  
(ज्ञानयोग) ये दोनों भक्तियोग के साधन माने जाते हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग ये  
दोनों भक्तियोग के साधन हैं और भक्ति कर्मयोग और ज्ञानयोग से साध्य है। इसी  
अभिप्राय से श्री यामुनाचार्य स्वामी जी ने स्वविरचित आत्मसिद्धि में कहा है-  
उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः। अर्थात् कर्म और  
ज्ञान से विशिष्ट अपने अन्दर परमात्मा में ऐकान्तिक (अनन्य) और आत्यन्तिक

भ्यासाधेयातिशयस्य भक्तियोगस्य सत्त्वविवृद्धिसाध्यतया तद्विरोधिरजस्तमो-  
मूलभूतपापनिर्बहणद्वारेण सत्त्वोपचयहेतुतयोपकारकत्वादात्मयाथात्म्य-  
ज्ञानपूर्वकैः परित्यक्तफलसङ्गकर्तृत्वादिभिः परमपुरुषाराधनैकवैषैर्नित्य-  
नैमित्तिककर्मभिर्भक्तेरुपचीयमानत्त्ववेषेण साध्यत्वम्।

तदेतत्सर्वमभिसन्धायोक्तं भगवता पराशरेण-

‘इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः।

ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया॥’ (वि.पु.६.६.१२) इति।

.....  
(सातिशय और सार्वत्रिक) जो भक्ति, उससे ही परमात्मा लभ्य (प्राप्य) हैं।  
जिनको भक्तियोग प्राप्त हो चुका है, उस भक्ति की निरन्तर वृद्धि करनी चाहिये।  
वह भक्ति भी विशदतम और प्रत्यक्ष समानाकार होनी चाहिये। दिव्यात्मस्वरूप की  
अनुसन्धानस्वरूपिणी स्मरणधारा शुष्क स्मरणधारा नहीं है, किन्तु प्रेमरस से  
ओतप्रोत है। यह स्मरणधारा साधक को अत्यन्त प्रिय लगती है, अत एव साधक  
इसे छोड़ना नहीं चाहता। भगवान् का आनन्दमय दिव्यात्मस्वरूप अत्यन्त प्रिय  
लगता है, अत एव उसकी स्मरणधारा अत्यन्त प्रिय लगती है। यह धारा  
बढ़ते-बढ़ते इतनी विशद बन जाती है कि प्रत्यक्ष के समानरूप को धारण कर  
लेती है। अतः तेल की धारा की तरह वह भक्ति निरन्तर स्मृतिधारा रूप होनी  
चाहिये। उस भक्ति का मोक्षप्राप्ति तक निरन्तर अनुवर्तन होते रहना चाहिये। उसकी  
प्रतिदिन अभ्यास की अतिशयता होनी चाहिये। तादृश जो भक्तियोग, उसके द्वारा  
सत्त्वगुण की वृद्धि होती रहती है। सत्त्वगुण की विवृद्धि होने के कारण वह  
भक्तियोग सत्त्वगुण के विरोधी रजोगुण एवं तमोगुण के मूलभूत पापों का समूल  
विनाश कर देता है। इस तरह वह भक्तियोग विशुद्ध सत्त्वगुण के संचय में  
उपकारक होता है। सत्त्वगुण के संचय होने से आत्मा का यथार्थबोध होने लगता  
है। इस तरह फलासक्ति और कर्तृत्व आदि त्याग चुके साधक में परमपुरुष परमात्मा  
की नित्य आराधना में प्रवृत्त कर्मों के द्वारा भक्ति की प्रवृद्धि कराने के कारण  
भक्ति की कर्मयोग और ज्ञानयोग द्वारा साध्यता सिद्ध होती है। इसी लिये मूल में  
स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्ति कहा है।

तदेतत्सर्वम्। इन सभी बातों का अनुसन्धान करके भगवान् श्री पराशर जी ने  
विष्णुपुराण कहा है कि ‘केशिध्वज ज्ञाननिष्ठ था तो भी अविद्या (कर्म) द्वारा मृत्यु को  
पार करने के लिये ज्ञानदृष्टि रखते हुये उसने अनेकों यज्ञों का अनुष्ठान किया।’

महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः। 'प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्य-  
भिधीयते' (लैङ्गपुराणे-उत्तर.९.१९) इति वचनमपि पूज्यविषयविशेषनियतं  
योज्यम्। सैव वेदनोपासनध्यानादिशब्दैरध्यात्मशास्त्रेषु मोक्षोपायविधिवाक्यैः  
सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपाद्यते, गुरुलघुविकल्पानुपपत्तेः सामान्यशब्दानां  
समानप्रकरणोक्तविशेषविश्रमे च सम्भवति द्वारिद्वारादिकल्पनायोगाद्,

.....  
**महनीयविषये।** रक्षाकार ने भक्ति का लक्षण लिखा है- महनीय  
(पूजनीय) के विषय में प्रीति होना ही भक्ति है। लिङ्गपुराण में जो यह कहा गया  
है कि 'प्रीतिपूर्वक निरन्तर चिन्तन को भक्ति कहा जाता है।' उक्त वचन में 'पूज्य  
के विषय में विशेषतः निश्चित रूप से' इतना भाग और जोड़कर यह अर्थ कर  
लेना चाहिये अर्थात् पूज्य के विषय में विशेषतः निश्चित रूप से प्रीतिपूर्वक निरन्तर  
चिन्तन को भक्ति कहा जाता है।

**सैव वेदनोपासनध्यानादिशब्दैरध्यात्मशास्त्रेषु मोक्षोपायविधिवाक्यैः  
सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपाद्यते।** पूज्य के विषय में विशेषतः और निश्चित  
रूप से प्रीतिपूर्वक निरन्तर चिन्तनात्मक भक्ति का ही वेदन, उपासन, ध्यान,  
निदिध्यासन आदि शब्दों से अध्यात्मशास्त्रों में मोक्ष के उपाय के रूप में उपासीन,  
विद्यात् आदि विधिवाक्यों से विधान किया गया है। तात्पर्य यह है कि भक्ति,  
वेदन, उपासन, ध्यान और निदिध्यासन ये शब्द पर्यायवाची हैं। मोक्ष के लिये  
तादृश भक्ति का ही सहारा लेना चाहिये। इस तरह से सामान्य और विशेष रूप  
से मोक्षहेतु के रूप में भक्ति प्रतिपादित की गयी है। मतान्तर में भक्ति और ज्ञान  
में लघु और गुरु का विकल्प माना गया है किन्तु सिद्धान्त में ऐसा नहीं है, क्योंकि  
भक्ति और ज्ञान में गुरु लघु का विकल्प उपपन्न नहीं हो सकता। गुरु और लघु  
की उपपन्नता वहाँ होती है जहाँ सामान्यशब्दों का विशेष शब्दों में विश्रान्ति न हो।  
भक्ति और ज्ञान के ऐकार्थ्य के लिये पाँच हेतु दिये गये हैं-

**१. सामान्यशब्दानां समानप्रकरणोक्तविशेषविश्रमे च सम्भवति  
द्वारिद्वारादिकल्पनायोगात्।** अर्थात् गुरु और लघु विकल्पों की अनुपपत्ति होने के  
कारण सामान्य शब्दों की समान-प्रकरणोक्त विशेष में विश्रान्ति सम्भव होने पर  
द्वार (माध्यम, हेतु) और द्वारी (माध्यम के द्वारा प्राप्य) आदि की कल्पना उचित  
नहीं है। अद्वैतमत में भक्ति वेदन (ज्ञान) का द्वार (माध्यम, साधन) माना जाता  
है। इस तरह उनके अनुसार भक्ति द्वार और वेदन द्वारी हैं। हमारे यहाँ भक्ति, ध्यान,

विद्युपास्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंहारदर्शनात् 'निदिध्यासितव्यः' (बृ.उ.४. ४.५) इत्यस्य स्थाने विज्ञानशब्दश्रवणाच्च, परमपुरुषवरणीयताहेतुभूत-गुणविशेषवतैव लभ्यत्वश्रुतेश्च, तद्वरणस्यास्मिन् शास्त्रे भक्त्यधीनोक्तेश्च। एवं सति वेदनेतरमोक्षोपायनिषेधकश्रुतीनाम्-

‘भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन!

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥’ (गीता-११.५४)।  
इत्यादिस्मृतीनाञ्चाविरोधः।

वेदन, उपासन और निदिध्यासन ये पर्यायवाची शब्द हैं। सामान्यवाची शब्दों का विशेषवाची शब्दों में विश्रान्ति (पर्यवसान) होता है। नियम यह है कि जिस विषय को लेकर उपक्रम (प्रारम्भ) किया जाता है, उपसंहार भी उसी विषय में होना चाहिये। उक्त नियम के कारण उपनिषदों में वर्णित वेदन, उपासन आदि की एकार्थता माननी पड़ती है।

२. विद्युपास्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंहारदर्शनात्। विदि (ज्ञानार्थक विद्-धातु) और उपासि (उपासनार्थक उपपूर्वक आस्-धातु) का व्यतिकर अर्थात् उलट-पुलट (ज्ञानियों के द्वारा शास्त्रों में ज्ञान से प्रारम्भ कर उपासना में उपसंहार और उपासना से प्रारम्भ कर ज्ञान में उपसंहार भी) देखा जाता है।

३. निदिध्यासितव्यः इत्यस्य स्थाने विज्ञानशब्दश्रवणाच्च। इतना ही नहीं 'निदिध्यासितव्य=निदिध्यासन करना चाहिये' की जगह विज्ञान शब्द का प्रयोग भी सूरियों ने किया है। तात्पर्य यह है कि वेदन का जो अर्थ है ध्यान और भक्ति का भी वही अर्थ है।

४. परमपुरुषवरणीयताहेतुभूतगुणविशेषवतैव लभ्यत्वश्रुतेश्च। श्रुतियों में नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः इत्यादि वाक्यों से बताया गया है कि जिस जीवात्मा को परमात्मा स्वयं वरण कर लेते हैं, उसके द्वारा ही वे परमात्मा लभ्य हैं और परमात्मा उसी का वरण करते हैं जो वरणीयता के हेतुभूत गुण भक्ति उस पुरुष में विद्यमान हो। इस तरह परमपुरुष परमात्मा के द्वारा वरणीयता के लिये हेतुभूत गुणविशेषों से युक्त व्यक्ति के द्वारा परमात्मा को लभ्य बताये जाने के कारण भी वेदन, उपासन आदि के पर्याय भक्ति ही गीतादि-शास्त्रों में मोक्षोपाय के रूप में प्रतिपादित है।

५. तद्वरणस्यास्मिन् शास्त्रे भक्त्यधीनोक्तेश्च। परमात्मा द्वारा जीवात्मा



तदेतदुक्तम्- 'भक्त्येकगोचरः' इति। भक्तेरेव गोचरो नान्यस्येत्यर्थः। एतेन कर्मसमुच्चयवाक्यार्थज्ञानादिपक्षाः प्रतिक्षिप्ताः। गोचरत्वमिह फलत्वेन ग्राह्यम्, 'भक्त्येकलभ्ये पुरुषे पुराणे' (गारुडपुराणे पूर्वखण्डे २१९.३४) इत्यादिभिरैकरस्यात्, 'भक्तियोगलभ्यः' इति स्वोक्तसंवादाच्च।

.....  
का वरण भी गीतादिशास्त्रों में भक्ति के अधीन बताया गया है। उक्त श्रुतियों से भी यह सिद्ध होता है कि परमात्मा स्वधर्म, ज्ञान और वैराग्य से साध्य भक्तियोग के द्वारा ही लभ्य हैं। ऐसा मानने पर वेदन से भिन्न मोक्षोपाय का निषेध करने वाली श्रुतियों का निम्नलिखित स्मृतियों से भी अविरोध सम्भव हो सकेगा। स्मृति (गीता) में यह कहा गया है-

**भक्त्या त्वनन्यया.....प्रवेष्टुं च परन्तपः।** अर्थात् मेरी भक्ति से रहित केवल अध्यापन, प्रवचन, अध्ययन, श्रवण और जपविषयक वेदों द्वारा और यज्ञा, दान, होम और तपों द्वारा अपने यथार्थरूप में स्थित मैं नहीं देखा जा सकता किन्तु अनन्य भक्ति के द्वारा ही मैं शास्त्रीयपद्धति से तत्त्वतः जाना जा सकता हूँ, तत्त्वतः साक्षात् किया जा सकता हूँ और तत्त्वतः प्रवेश किया जा सकता हूँ।

इस तरह भक्ति, वेदन, उपासन आदि ऐकार्थ्य मानने पर ही वेदन से भिन्न मोक्षोपाय का निषेध करने वाली श्रुतियों का स्मृतिवचनों से अविरोध सम्भव होगा।

**तदेतदुक्तम्।** मोक्ष का तात्पर्य है भगवत्प्राप्ति और वह भगवत्प्राप्ति केवल भक्ति से ही सम्भव है। अत एव इसी विषय को श्री यामुनाचार्य स्वामी जी ने अपने ग्रन्थ में कहा- **भक्त्येकगोचरः।** भगवान् केवल भक्ति से प्राप्य होते हैं, अन्य उपायों से नहीं होते। इस उक्ति से 'कर्म के साथ तत्त्वमसि आदि वाक्यार्थ के ज्ञान से ब्रह्म गोचर होता है' आदि पक्ष दूर फेंक दिये गये हैं अर्थात् उन पक्षों को अस्वीकार कर दिया गया है। **तत्त्वमसि** आदि वाक्य अनुसन्धान के विषय हैं। **तत्** शब्द का अर्थ है जगत्कारणभूत परमात्मा और **त्वम्** पद का अर्थ है तुम्हारे अन्तर्यामी परमात्मा। वह जगत्कारणभूत परमात्मा और तुम्हारे अन्तर्यामी परमात्मा में ऐक्य है, ऐसा अर्थ बताना उक्त श्रुति का तात्पर्य है।

गीतार्थसंग्रह के प्रथमश्लोक में पठित **गोचर** शब्द को फल समझना चाहिये। अर्थात् भक्ति उपाय है और उसका फल परमात्मा की प्राप्ति उपेय है। उनकी प्राप्ति को गोचर-शब्द से कहा गया है। इससे गारुडपुराण के पूर्वखण्ड में

उपायतया फलतया चैकस्यैवावलम्बनादैश्वर्याद्यर्थभक्ति-  
व्यवच्छेदार्थं वात्रैकशब्दः। अत्र ह्यैश्वर्याद्यर्वाचीनपुरुषार्थग्रहणं भूमविद्या-  
यामिव निरतिशयपुरुषार्थप्रतिपादनार्थम्। तदभिप्रायेण च भाष्यम्-  
'परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीत-  
भक्तियोगमवतारयामास' (गीताभाष्ये उपोद्घातः) इति।

.....  
वर्णित 'पुराणपुरुषोत्तम केवल एक भक्ति के द्वारा ही लभ्य हैं' इत्यादि वाक्य से  
एकरसता हो जाती है। श्री यामुनाचार्य स्वामी जी एवं श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी  
ने बारम्बार इसी विषय का संवाद किया है। उसी संवाद से एकरसता बनी रहती  
है कि भगवान् भक्तियोग से ही गम्य, जानने योग्य और प्राप्य हैं।

**उपायतया।** अथवा भगवान् श्रीमन्नारायण ही उपाय हैं और वे ही फल  
(उपेय) हैं, इस तरह के एकार्थ का अवलम्बन करके प्राकृत (सांसारिक) ऐश्वर्य  
आदि की प्राप्ति के लिये की जाने वाली भक्ति का निवारण करने के लिये  
**भक्त्येकगोचरः** में एक शब्द का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि जो लोग  
ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये ईश्वर की भक्ति करते हैं, उनको भगवान् प्राप्त नहीं होते,  
क्योंकि उनकी भक्ति भगवत्प्राप्ति के लिये है ही नहीं, वे तो ऐश्वर्य आदि की  
प्राप्ति के लिये उनकी उपासना कर रहे हैं। जो केवल भगवत्प्राप्ति के लिये भक्ति  
करते हैं, उनसे ही भगवान् प्राप्य होते हैं। इसी तरह केवल मोक्ष की प्राप्ति के लिये  
भगवान् की उपासना करने वालों के लिये भी भगवान् प्राप्त नहीं होते, उन्हें मोक्ष  
प्राप्त हो सकता है, किन्तु भगवान् का नित्य कैर्कर्य प्राप्त नहीं होगा। अतः  
श्रीवैष्णवों को मोक्ष की कामना भी नहीं करनी चाहिये। भगवत्प्राप्ति के बाद तो  
सब कुछ प्राप्त हो ही जाता है, मोक्ष भी। पुरुषार्थ के अन्तर्गत आने वाले  
ऐश्वर्य-प्राप्ति का कथन इस लिये किया गया है कि उपनिषद् की भूमाविद्या आदि  
में निरतिशय परमपुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति का जो प्रतिपादन किया गया है, उस तरह  
का परमपुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति को ही माना जाय, इस बात को स्पष्ट करने के लिये  
है। किसी एक की अतिशत-श्रेष्ठता- अन्य की न्यूनता के मापदण्ड से जानी जा  
सकती है। इसी अभिप्राय से श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी ने भी श्रीमद्भगवद्गीता  
के उपोद्घात में कहा है कि- परमपुरुषार्थ लक्षण मोक्ष के साधनभूत और वेदान्तों  
में कथित स्वविषयक ज्ञानयोग और कर्मयोग से निष्पाद्य भक्तियोग का अवतरण  
भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में किया है। स्वामी जी का आशय यह है कि भगवान्

यद्वा निरतिशयैश्वर्ययुक्ततया भक्त्यर्हत्वमिह तद्गोचरत्वम्। ऐकान्तिकत्वादिव्यञ्जनाय त्वेकशब्दः। 'परावरज्ञं भूतानाम्' (गीताभाष्ये उपोद्घातः) इत्याद्युक्तपरावरतत्त्वनिश्चयेन अन्यभक्त्युन्मूलनादव्यभिचारेण अनन्यविषयत्वमैकान्तिकत्वम्। सातिशयनिरतिशयपुरुषार्थविवेकेन तदेकभोग्यतया उत्तरावधिरहित्यमात्यन्तिकत्वम्।

कारणवाक्यस्थानां सद्ब्रह्मादिसामान्यशब्दानां समान-प्रकरणमहोपनिषदादिपठिताबाधितासम्भवाद् गत्यन्तरनारायणादिविशेष-शब्दार्थविश्रमं व्यञ्जयितुं 'नारायणः परं ब्रह्म' इति विशेषतः सामान्यतश्च व्यपदेशद्वयम्। अनेनाविभक्तिकेऽपि नारायणानुवाकवाक्ये पूर्वापरवाक्य-च्छायानुसाराच्छाखान्तरसविसर्जनीयपठनाच्च व्यस्तत्वं व्यञ्जितम्।

.....  
भक्तियोग से प्राप्य हैं और भक्तियोग कर्मयोग तथा ज्ञानयोग से निष्पाद्य है।

**यद्वा।** अथवा निरतिशय ऐश्वर्य युक्त होकर भक्ति के अर्ह होना यहाँ पर भक्तिगोचरत्व है। ऐकान्तिकत्व आदि अर्थ को व्यञ्जित करने के लिये एक-शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐकान्तिक भक्ति का तात्पर्य है देवतान्तर (भगवान् श्रीमन्नारायण के अतिरिक्त अन्य देवताओं) की भक्ति से रहित होकर केवल परमात्मा की भक्ति करना। जैसे कि गीताभाष्य के उपोद्घात में भी स्वामी जी ने भगवान् को समस्त भूतों का परावरज्ञ कहा है और तदनुरूप परावर-तत्त्वनिश्चय (परतत्त्व के निश्चय और अवरतत्त्व के निश्चय) होने पर अन्य देवतान्तर की भक्ति का समूल निवारण करके अर्थात् अन्य देवताओं की भक्ति न करके केवल परमात्मा की भक्तिरूप अनन्यविषयत्व से युक्त रहना ही ऐकान्तिक भक्ति है। अतिशय (आधिक्य, प्रमुखता, उत्कृष्टता) और निरतिशय (जिससे बढ़चढ़कर दूसरा न हो, अद्वितीय) पुरुषार्थ विवेक से उत्तरावधि रहित यावत्काल परमात्मा का भोग्य बनकर रहना ही आत्यन्तिक भक्ति है। पूर्वावधि का तात्पर्य होता है प्रारम्भ और उत्तरावधि का तात्पर्य होता है समापन। यहाँ उत्तरावधिरहित्येन का अर्थ है अन्तरहित अर्थात् अन्तहीन।

इस तरह गोचर शब्द का प्रतिपादन किया गया। अब आगे नारायणः परं ब्रह्म इन शब्दों पर विचार किया जा रहा है।

**कारणवाक्यस्थानाम्।** उपनिषदों में जगत् का कारण ब्रह्म को कहा गया

तेन च सर्वपरविद्योपास्यविशेषनिर्द्धारणार्थतया केवलपरतत्त्व-  
प्रतिपादनपरनारायणानुवाकसिद्ध एवास्य शास्त्रस्य विषयः। तद्विभूतित्वेन  
'विश्वमेवेदं पुरुषः' (तै.ना.११.२) इतिवत् समानाधिकरणतया तत्राम्नातानां  
ब्रह्मशिवेन्द्रादीनां नारशब्दार्थानामिहापि 'ब्रह्माणमीशम्' (गीता-११.१५)  
इत्यादिभिस्तद्विभूत्येकदेशाश्रयत्वं प्रतिपाद्यत इति ख्यापितम्।

.....  
है- सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्। ये यी कारणवाक्य हैं। इनका  
तात्पर्य यह है कि वही ब्रह्म उपादानकारण के साथ निमित्तकारण भी है। किसी  
भी वस्तु की रचना में दो कारण हुआ करते हैं- उपादानकारण और निमित्तकारण।  
जैसे कि एक घट की रचना में मिट्टी उपादानकारण (पदार्थ) है और कुम्हाल  
निमित्तकारण। यद्यपि संसार में उपादानकारण और निमित्तकारण भिन्न-भिन्न हुआ  
करते हैं, जो उपादानकारण है, वह निमित्तकारण नहीं होता और जो निमित्तकारण  
है वह उपादानकारण नहीं होता, तथापि जगत्कारण परब्रह्म में उपादानकारणत्व और  
निमित्तकारण ये दोनों ही विद्यमान हैं। जगत् का उपादानकारण और निमित्तकारण  
बनने वाला वह ब्रह्म कौन है? इस पर उपनिषदों में विशेष चर्चा हुयी है। सदेव  
सोम्येदमग्र आसीत् आदि कारणवाक्य माने जाते हैं। उक्त कारणवाक्यों में स्थित  
सद्ब्रह्म आदि सामान्यशब्दों का समान-प्रकरण वाले महोपनिषद् आदि में पठित  
शब्दों से बाधित होना सम्भव नहीं है और अनन्यगतिक होकर नारायण आदि  
विशेष शब्दार्थ में सत्-आदि शब्दों का विश्राम होता है। यह नियम है कि  
सामान्यशब्दों की विशेषशब्दों में विश्रान्ति होती है। इसी बात को व्यञ्जित करने  
के लिये प्रकृत मूलश्लोक में नारायणः परं ब्रह्म ऐसे सामान्य और विशेष शब्दों  
का पाठ किया गया है। इस तरह परं ब्रह्म शब्द नारायणः का ही विशेषण है  
अर्थात् जिसे परब्रह्म कहा जाता है, वे भगवान् श्रीमन्नारायण ही हैं। नारायणानुवाक  
के वाक्य में अविभक्तिक (प्रथमाविभक्तिरहित) नारायणशब्द से पूर्वापर छायानुसार  
और अन्यशाखाओं में विसर्ग पाठ से वह समस्त (समास वाला) नहीं अपितु व्यस्त  
(समास-रहित) ही है, ऐसा व्यञ्जित होता है। समास होने पर नारायणपरं ब्रह्म  
ऐसा होगा और समास-रहित अवस्था में नारायणः परं ब्रह्म इस रूप में है।  
कहीं-कहीं नारायण शब्द में विसर्ग रहित पाठ मिलने से यह आशंका उपस्थित  
हुयी थी, उसका उपर्युक्त रीति से समाधान समझना चाहिये। ब्रह्मसूत्रों से यह  
सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि उपनिषदों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, शिव आदि

उक्तं च स्तोत्ररत्ने-

स्वाभाविकानवधिकातिशयेशितृत्वं,

नारायण त्वयि न मृष्यति वैदिकः कः।

ब्रह्मा शिवः शतमुखः परमस्वराडि-

त्येतेऽपि यस्य महिमार्णवविप्रुषस्ते॥ इति। (स्तोत्ररत्नम्.११)।

.....  
जो शब्द आते हैं, वे सामान्यतया अग्नि आदि के वाचक होते हुये अन्ततः उनके अन्तर्यामी परब्रह्म भगवान् श्रीमन्नारायण में ही पर्यपसित होते हैं अर्थात् ये शब्द भी अन्ततः परब्रह्म भगवान् के ही वाचक हो जाते हैं। जैसे कि देवदत्त आदि शब्द सर्वप्रथम देवदत्त के शरीर का वाचक है, उसके बाद उस शरीर के अन्तर्वर्ती आत्मा का भी वाचक हो जाता है, उसी तरह वह शब्द देवदत्त के शरीर एवं आत्मा के भी अन्तर्यामीभूत परमात्मा का भी वाचक हो जाता है। इस तरह सभी शब्द अन्ततः परमात्मा के ही वाचक हो जाते हैं।

**तेन च सर्वपरविद्या।** समस्त उपनिषदों से सर्वपरविद्या द्वारा उपास्य-विशेष के निर्धारण के लिये केवल परतत्त्व प्रतिपादन करने में प्रवृत्त नारायणानुवाक (उपनिषद्) में वर्णित सिद्धपरब्रह्म ही इस गीता-शास्त्र का विषय है। अन्य उपनिषद् ब्रह्म को उपास्य बताते हैं किन्तु वह ब्रह्म कौन है? इसका निर्णय नहीं करते किन्तु महोपनिषद् का नारायणानुवाक निर्णय करके बता देता है कि अन्य उपनिषदों में उपास्य के रूप में वर्णित वह ब्रह्म नारायण ही है। नारायण की विभूति के रूप में यह सम्पूर्ण जो कुछ भी है, वह नारायण ही है इत्यादि की तरह समानाधिकरण के रूप में तत्र-तत्र प्रतिपादित नार-शब्दार्थ वाले ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि शब्दों का यहाँ गीता में भी ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् आदि वाक्यों से भगवान् की विभूति के एकदेशाश्रयत्व के रूप में प्रतिपादित किये गये हैं, यह बात ख्यापित होती है। भगवान् श्रीमन्नारायण विभूतिमान् हैं और ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि उनकी विभूतियाँ हैं और वही विभूतिमान् ही परब्रह्म है तथा तादृश परब्रह्म ही श्रीमन्नारायण भगवान् हैं।

**उक्तं च स्तोत्ररत्ने।** भगवान् विभूतिमान् हैं और ब्रह्मा, शिव इत्यादि भगवान् की विभूतियाँ हैं, इस विषय का प्रतिपादन श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी ने स्तोत्ररत्न (आलवन्दार) में भी किया है- हे नारायण! स्वाभाविक, अनवधिक और अतिशय ऐश्वर्यत्व आपमें ही है, इस बात को कौन वैदिक स्वीकार नहीं करता?

संवित्सिद्धौ च अद्वितीयश्रुतिव्याख्याने च दर्शितम्-

‘यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयोऽस्ति भूतले।

इति तत्तुल्यनृपतिनिवारणपरं वचः॥

न तु तत्पुत्रतद्भृत्यकलत्रादिनिवारकम्।

तथा सुरासुरनरब्रह्माण्डशतकोटयः॥

क्लेशकर्मविपाकाद्यैरस्पृष्टस्याखिलेशितुः।

ज्ञानादिषाड्गुण्यनिधेरचिन्त्यविभवस्य ताः॥

विष्णोर्विभूतिमहिमसमुद्रद्रप्सविप्रुषः॥’ इति।

पुरुषनिर्णये च एतत्प्रपञ्चो ग्राह्यः। तदेतद्व्यपदेशद्वयं ‘श्रियःपतिः’

इत्यादिना प्रारम्भभाष्येण व्याकृतम्। अत एव हि तत्रापि ‘परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायणः’ इत्यन्तेन समभिव्याहृतम्। प्रपञ्चितमेतदस्माभि-  
स्तात्पर्यचन्द्रिकायामिति नात्र विस्तृणीमहे।

.....  
ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, परमस्वराट् ये सब के सब आपके महिमासागर के एक जलकण के समान ही हैं अर्थात् आप (भगवान्) महिमा के सागर हैं और ये सब (ब्रह्मा आदि) उस सागर के एक जलकण हैं। इस तरह आपका लोकोत्तर ऐश्वर्य है।

**संवित्सिद्धौ च।** श्री यामुनाचार्य स्वामी जी द्वारा अनुगृहीत सिद्धित्रय की संवित्सिद्धि में और वेदान्त के अद्वितीयपद के व्याख्यान में भी यह दिखाया गया है कि जैसे ‘चोलदेश का राजा पृथिवी का अद्वितीय सम्राट् है’ ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि उसके बराबर अन्य कोई राजा नहीं है। यहाँ पर अद्वितीय-शब्द का यह मतलब नहीं है कि उसके कोई पुत्र, पत्नी, सेवक आदि कोई भी नहीं हैं। इसी तरह वेदान्त के अद्वितीय शब्द का अर्थ यह है कि परमात्मा के समान कोई नहीं है। इसी तरह शटकोटि ब्रह्माण्ड में सुर, असुर, नर आदि में परमात्मा के समान कोई नहीं है, अतः वे अद्वितीय हैं। वे परमात्मा क्लेश, कर्मविपाक आदि से रहित हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के एकमात्र स्वामी हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज इन षड्गुणों की निधि हैं। उनके वैभव का पता लगाना असम्भव है, इसलिये वे अचिन्त्यविभव हैं। उसी तरह सभी ब्रह्मादि देव उन भगवान् श्रीविष्णु की महिमासागर के द्रप्स=छोटे से, विप्रुषः=जलकण के समान हैं। यह विषय महापुरुषनिर्णयः नामक ग्रन्थ में विस्तार से वर्णित है, वहाँ से ग्रहण कर लेना

.....  
चाहिये। इन सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जो उपनिषदों में ब्रह्म या परब्रह्म के रूप में प्रतिपादित है, वह तत्त्व श्रीमन्नारायण ही है।

**तदेतदव्यपदेशद्वयम्।** इन दो व्यपदेशों (परब्रह्म और नारायण के रूप में विशेष-कथनों) का गीताभाष्य में **श्रियः पतिः** इस प्रारम्भभाष्य से श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी महाराज ने विस्तृत वर्णन किया है। आपका भाष्य इस तरह है- भगवान् श्रीमन्नारायण लक्ष्मी के पति हैं। वे सम्पूर्ण त्याज्य गुणों से परे हैं और कल्याणमय गुणों के एक मात्र विस्तार हैं। भगवान् अपने से अतिरिक्त समस्त वस्तुओं से विलक्षण हैं। वे एक मात्र अनन्त ज्ञानानन्दस्वरूप हैं। भगवान् स्वाभाविक रूप से असीम अतिशय ज्ञान, स्वाभाविक रूप से असीम अतिशय बल, स्वाभाविक रूप से असीम अतिशय ऐश्वर्य, स्वाभाविक रूप से असीम अतिशय वीर्य, स्वाभाविक रूप से असीम अतिशय शक्ति और स्वाभाविक रूप से असीम अतिशय तेज आदि असंख्य कल्याणगुणसमूह के महान् सागर हैं। भगवान् का दिव्य श्रीविग्रह स्वेच्छानुरूप होता है और वह सदा एकरस, अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत, नित्य, निर्मल, अतिशय औज्ज्वल्य, अतिशय सौगन्ध्य, अतिशय सौन्दर्य, अतिशय सौकुमार्य, अतिशय लावण्य और अतिशय यौवन आदि अनन्त गुणों का भण्डार है।

गीताप्रारम्भभाष्य में श्री स्वामी जी आगे कहते हैं कि भगवान् के योग्य ही भगवान् के आभूषण भी होते हैं जो विविध विचित्र अनन्त आश्चर्यमय नित्य निर्मल अपरिमित हैं। भगवान् के योग्य ही भगवान् के आयुध भी होते हैं जो अचिन्त्य शक्तियुक्त नित्य, निर्मल, निरतिशय कल्याणमय हैं। भगवान् के योग्य ही भगवान् की प्रियतमा महालक्ष्मी जी हैं जो भगवान् के मन के अनुरूप ही नित्य, निरवद्य स्वरूपभूत श्रीविग्रहों से युक्त और गुण, वैभव, ऐश्वर्य शील आदि की प्रतिमूर्ति हैं तथा वे गुण उनमें भी अनन्त ही होते हैं।

भगवान् के संकल्प के अनुसार चलने वाले और भगवान् की संकल्प के अनुसार अपना स्वरूप, अपनी स्थिति और अपनी प्रवृत्ति मानने वाले भगवान् के अनन्य सेवक दास्यभाव से परिपूर्ण अनन्य-प्रेमी भक्तगण जो नित्य, निर्मल, निरतिशय ज्ञान, क्रिया, ऐश्वर्य आदि से परिपूर्ण हैं, वे अनेकों पार्षद और नित्यसूरि गण भगवान् के श्रीचरणों की नित्य स्तुति किया करते हैं।

भगवान् का स्वरूप और स्वभाव मन और वचनों से परे है। भगवान् का अपना नित्य निवास स्थान श्रीवैकुण्ठ है। वहाँ भगवान् के ही योग्य भोग-पदार्थ और भोग्य स्थान हैं। श्रीवैकुण्ठ में अनन्त आश्चर्य अनन्त महावैभव और अनन्त विस्तारयुक्त नित्य, निर्मल, क्षयरहित परम दिव्य स्थान है।

.....

भगवान् विविध, विचित्र अनन्त भोग्यवर्ग और भोक्तावर्गों से युक्त समस्त जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करने की लीला किया करते हैं।

परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् नारायण ही ब्रह्मा से लेकर स्थावर (पेड़, पर्वत) तक के समस्त चराचर जगत् की रचना करके उनमें अपने अचिन्त्य रूप से अन्तर्यामी बनकर स्थित रहते हैं।

यद्यपि भगवान् ब्रह्मादि देव और मनुष्यों के द्वारा ध्यान और आराधना के विषय नहीं हैं तथापि अपार कारुण्य, अपार सौशील्य, अपार वात्सल्य और अपार औदार्य के महासागर होने के कारण वे राम, कृष्ण आदि के रूप में अवतार लेते हैं, ताकि भक्त लोग भगवान् के स्वरूप का ध्यान करके उनकी आराधना कर सकें। भगवान् जब अवतार लेते हैं, तब वे अपने दिव्य गुण और स्वभावों को छोड़ते नहीं किन्तु मनुष्यों की तरह प्राकृत-से शरीर धारण करके सामान्य मनुष्य की तरह बन जाते हैं। तादृश रूपों में भक्तों के द्वारा भगवान् आराधित हो जाते हैं और भक्तों के इच्छा के अनुरूप उन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि फल प्रदान करते हैं।

गीताप्रारम्भभाष्य में श्रीस्वामी जी आगे कहते हैं- वे भगवान् नारायण ही पृथ्वी का भार हरण करने के बहाने हम जैसे जीवों को भी शरण देने के लिये भूमि पर श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लेकर तत्कालीन मनुष्यों के नेत्रगोचर बने थे। उस समय उन्होंने छोटे-बड़े सभी मनुष्यों के मन एवं नयनों को हरण करने वाली दिव्य लीला करते हुये उन्होंने पूतना, शकटासुर, अरिष्टासुर, प्रलम्बासुर, धेनुकासुर, कालिय, केशी, कुवलायपीड, चाणूर, मुष्टिक, तोसल, और कंस आदि का वध करके उनका उद्धार किया था और अपरिमित दया, सौहार्द और अनुराग से भरे दर्शन-भाषणरूप अमृत से विश्व को तृप्त करते हुये निरतिशय सौन्दर्य और सौशील्य आदि गुणसमूहों को प्रकट करके अक्रूर, मालाकार आदि को परम भक्त बनाया एवं पाण्डुपुत्र अर्जुन को युद्ध के प्रोत्साहित करके के बहाने परम पुरुषार्थ मोक्ष के साधन के रूप में वेदान्त (उपनिषद्) में वर्णित ज्ञान-कर्म के द्वारा साध्य भगवद्विषयक भक्तियोग को प्रकट किया। इस तरह भगवत्तत्त्व का प्रतिपादन करके वहाँ पर प्रारम्भ-भाष्य के अन्त में परं ब्रह्म पुरुषोत्तमः नारायणः इन शब्दों से उपोद्घात को पूर्ण किया है। इस तरह परं ब्रह्म और नारायण इन दोनों शब्दों का उपयोग तत्र-तत्र किया गया है। श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी महाराज ने गीतार्थसंग्रह के प्रारम्भ में सम्पूर्ण गीता का सार एक श्लोक से कहते हुये नारायणः परं ब्रह्म ये दोनों का व्यपदेश (कथन) किया है। श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी जी कहते हैं कि



निर्विशेषणस्यैव ब्रह्मशब्दस्य काष्ठाप्राप्तबृहत्त्वबृंहणत्वयोगिनि परमात्मन्येव योगरूढत्वेऽपि तस्मादन्यत्र जीवादौ तद्गुणलेशयोगादौप-चारिकप्रयोगरूढेस्तद्व्यवच्छेदाय 'परम्' इति विशेषितम्। एवमेव ह्यन्यत्रापि विशोष्यते। व्योमातीतवादिमतनिरासार्थं वा परत्वोक्तिः।

.....  
उक्त विषय का हमने गीताभाष्य की तात्पर्यचन्द्रिका-नामक व्याख्या में विशेष प्रकार से वर्णन किया है। अतः यहाँ पर विस्तृत व्याख्या नहीं कर रहे हैं। जिज्ञासुओं को चाहिये कि तात्पर्यचन्द्रिका का अवलोकन करें।

अब ब्रह्म शब्द मात्र से ही काम चल सकता है तो परम् विशेषण क्यों लगाया गया? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है-

**निर्विशेषणस्यैव।** निर्विशेषण अर्थात् परम्-विशेषण से रहित ब्रह्म-शब्द काष्ठाप्राप्त= अन्तिम-सीमा तक के बृहत्त्व (बृहत् गुण से युक्त) और बृंहणत्व (दूसरों को बृहत् करने वाले गुण से युक्त) योग वाले परमात्मा में ही योगरूढ है। योगरूढ-शब्द का अर्थ है- योगशक्ति और रूढिशक्ति से युक्त। इस तरह स्वयं बृहत्त्वयुक्त और औरों को भी बृहत्त्व से सम्पन्न करने वाला होने के कारण योगशक्ति और रूढिशक्ति दोनों से ही ब्रह्म-शब्द का स्वतः परब्रह्म अर्थ हो जाता है। इस तरह परम्-शब्द के बिना ही तादृश अर्थ उपस्थित हुये भी परम् शब्द को विशेषण के रूप में मूलश्लोक में देने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा से अन्य जीव आदि में भी ब्रह्मशब्द का प्रयोग देखा गया है अर्थात् यत्किञ्चित् गुणलेश के संयोग मात्र से जीव, प्रकृति आदि में ब्रह्म शब्द औपचारिक प्रयोग रूढिवशात् हुआ करता है। अर्थात् भगवान् के द्वारा प्रदत्त गुणांश के कारण जीवों के विषय में भी कहीं-कहीं ब्रह्म-शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः उक्त जीवरूप ब्रह्म से परमात्मा को अलग दिखाने के लिये अथवा जीव में ब्रह्म का प्रयोग रोकने के लिये ब्रह्मशब्द के साथ परम् शब्द को भी श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी ने मूलश्लोक में जोड़ा है। इस तरह परम् शब्द को ब्रह्म शब्द का विशेषण बनाया है- परं ब्रह्म।

**एवमेव ह्यन्यत्रापि विशोष्यते।** इसी तरह अन्यत्रापि ब्रह्मशब्द के साथ परम् शब्द को रखने का प्रावधान है। उसका तात्पर्य यही होता है कि ब्रह्मसम्बन्ध से जीव आदि में भी कभी-कभी ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता आया है और परमात्मा के लिये प्रायः परब्रह्म शब्द का प्रयोग समझना चाहिये। व्योमातीतवादिमत के निवारणार्थ भी पर-शब्द का प्रयोग समझना चाहिये। आकाशशब्दवाच्य जगत्कारणभूत

गीतैव तत्त्वहितयोर्यथावच्छासनात् शास्त्रम्। उपनिषत्समाधिना सिद्धव्यवहारनिरूढेः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। एतेन शास्त्रान्तरादस्य शास्त्रस्याधिक्यं व्यञ्जितम्।

स्वयं च महाभारते महर्षिणोक्तम्-

‘अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्’ (आदिपर्वणि १.२७९)

इति।

.....

उपादान से अतीत परमशिव को निमित्तकारण मानने वाला वाद व्योमातीतवाद कहलाता है। व्योमातीतवाद में निमित्तकारण दूसरा है और उपादानकारण दूसरा। सिद्धान्त में जगत् का निमित्त उपादानकारण और निमित्तकारण परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीमन्नारायण ही हैं।

**गीतैव।** गीता में तत्त्व और हित का यथावत् प्रतिपादन किया गया है, अतः एव गीता एक शास्त्र ही है। जो तत्त्व और हित के विषय में अनुशासन करते हैं, उन्हें शास्त्र कहा जाता है। अब यह प्रश्न आता है कि गीता-शब्द में स्त्रीलिङ्ग का निर्देश क्यों है? अर्थात् गीतः, गीतम् ऐसा भी तो हो सकता है? इसके उत्तर में दो हेतु दिये गये हैं- उपनिषत्समाधिना और सिद्धव्यवहारनिरूढेः। प्रथम कारण तो यह है कि गीता उपनिषद् से बहुत सामंजस्य रखती है, यह उपनिषत्समाधि है। उपनिषद्-शब्द स्वभावतः स्त्रीलिङ्ग है। अतः गीता में भी स्त्रीलिङ्ग हुआ है। दूसरी बात यह है कि गीता-शब्द का स्त्रीलिंग में प्रयोग सिद्ध व्यक्तियों के व्यवहार में समाया हुआ था। अतः उसको यथावत् रखा गया है।

**एतेन=गीता के विषय में ऊपर जो प्रतिपादन हुआ, उससे शास्त्रान्तराद=अन्य समस्त शास्त्रों की अपेक्षा, अस्य शास्त्रस्य=गीताशास्त्र की, आधिक्यं व्यञ्जितम्=अधिक महिमाशालिनी होना सूचित होता है।** गीताशास्त्र में भक्त्येकलभ्य परब्रह्म भगवान् श्रीमन्नारायण का प्रतिपादन होने के कारण अन्य शास्त्रों की अपेक्षा इसकी महिमा अधिक है। अन्य शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम आदि विषयों का भी प्रतिपादन हुआ है किन्तु गीता में केवल तत्त्व और हित इन दो विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है। तत्त्व परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं और हित उनकी प्राप्ति के साधन हैं। इन दोनों का विवेचन गीता में है।

स्वयं महाभारत में महर्षि वेदव्यास जी ने भी कहा है कि इस गीता में पवित्र उपनिषदों का वर्णन कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) द्वारा किया गया है। उपनिषदों

उक्तं चाभियुक्तैः-

‘यस्मिन् प्रसादसुमुखे कवयोऽपि ये ते,

शास्त्राण्यशासुरिह तन्महिमाश्रयाणि।

कृष्णेन तेन तदिह स्वयमेव गीतं,

शास्त्रस्य तस्य सदृशं किमिवास्ति शास्त्रम्॥’ इति।

पञ्चमवेदे चास्यांशस्य प्राधान्यमुद्धृत्याहुः-

‘भारते भगवद्गीता धर्मशास्त्रेषु मानवम्।

वेदेषु पौरुषं सूक्तं पुराणेषु च वैष्णवम्॥’ इति।

समीरितः=सम्यगीरितः। अज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिक्षेपेण परमप्राप्यत्व-  
प्रापकत्वसर्वकारणत्वसर्वरक्षकत्वसर्वसंहर्तृत्वसर्वाधिकत्वसर्वाधारत्वसर्व-

का वर्णन होने के कारण उपनिषद्-सदृश ग्रन्थ के नाम का स्त्रीलिंग में प्रयोग होना युक्तिसंगत ही है।

उक्तं चाभियुक्तैः। किन्हीं प्रामाणिक विद्वान् ने भी कहा है- जिस कृपाभिमुख गीताशास्त्र में कविगण भी उसकी महिमा से समाश्रित विभिन्न शास्त्रों का प्रणयन किया करते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस शास्त्र का स्वयं गान किया है, ऐसे शास्त्र के समान अन्य कौन शास्त्र हो सकता है!

पञ्चमवेदे। पंचमवेद के रूप में प्रख्यात महाभारत में उसके अंश के रूप में गीता की प्रधानता बतायी गयी है। जिस तरह महाभारत में श्रीमद्भगवद्गीता श्रेष्ठ है, धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति श्रेष्ठ है, वेदों में पुरुषसूक्त श्रेष्ठ है, उसी तरह पुराणों में विष्णुपुराण श्रेष्ठ है। श्रीवचनभूषण में भी श्रीलोकाचार्यस्वामी जी के कहा है कि वेदार्थ का निर्णय स्मृति, इतिहास और पुराणों से करना चाहिये। महाभारत इतिहास के रूप प्रसिद्ध है तथा श्रीमद्भगवद्गीता उक्त महाभारत का ही एक अंश है। अतः श्रीमद्भगवद्गीता से वेदों (उपनिषदों) का अर्थनिश्चय किया गया है। अतः इस ग्रन्थ (गीता) की प्रामाणिकता सर्वाधिक है।

अब गीतार्थसंग्रह के समीरितः शब्द का अर्थ बता रहे हैं। सम् उपसर्ग है और ईर क्षेपे या ईर गतौ कम्पने धातु से क्तप्रत्यय, इट् आगम होकर ईरितः बना है। सम्+ईरितः=समीरितः। यहाँ पर इरितः शब्द का अर्थ वर्णन किया गया है, ऐसा होता है और सम् उपसर्ग के योग से ‘सम्यक् प्रकार से वर्णन किया गया

नियन्तृत्वसर्वशेषित्वसर्ववेदवेद्यत्वसर्वहेयरहितत्वसर्वपापमोचकत्व-  
सर्वसमाश्रयणीयत्वादिभिः स्वभावैः समस्तवस्त्वन्तरविलक्षणतया  
पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपादित इत्यर्थः। समन्वयसूत्रवन्निरतिशयपुरुषार्थत्वविवक्षया  
वा समित्युपसर्गः। एवमनेन श्लोकेन शास्त्रार्थः सङ्गृहीतः॥१॥

.....  
है, ऐसा अर्थ बन जाता है। समीरितः=सम्यगीरितः। सम्यक्ता के लिये दो हेतु दिये  
गये हैं- १. अज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिक्षेपेण और २. परमप्राप्यत्व आदि से  
पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपादितः तक। किस तरह सम्यक् प्रतिपादित किया गया है?  
देखें- अज्ञान, संशय, विपर्यय ज्ञान का निवारण करके प्रापकत्व=परमात्मा ही  
प्रापक हैं अर्थात् वे ही उपाय हैं, सर्वकारणत्व=समस्त चराचर के उपादानकारण  
और निमित्तकारण परमात्मा ही हैं, सर्वरक्षकत्व=भगवान् एकमात्र सबके रक्षक हैं,  
सर्वसंहर्तृत्व=सबके संहर्ता भी परमात्मा ही हैं, सर्वाधिकत्व=भगवान् ही गुण,  
विभव, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, क्रिया आदि द्वारा सबसे श्रेष्ठ हैं, सर्वाधारत्व=भगवान्  
नारायण ही सबके आधार हैं, सर्वनियन्तृत्व=भगवान् में ही सबको नियन्त्रण करने  
की शक्ति है, सर्वशेषित्व=भगवान् श्रीमन्नारायण ही सबके शेषी हैं और चित् और  
अचित् परमात्मा का शेष है, उनके शेषी (स्वामी) परमात्मा हैं, सर्ववेदवेद्यत्व=  
भगवान् केवल एकमात्र शब्दप्रमाणभूत समस्त वेदों से जाने जाते हैं, वे वेदवेदान्तवेद्य  
हैं, वे सर्वहेयरहितत्व=समस्त सत्त्व, रजस्, तमस् आदि त्याज्य गुणों से परे हैं,  
सर्वपापमोचकत्व=परमात्मा ही जीवात्माओं को समस्त पापों से छुड़ाते हैं,  
सर्वसमाश्रयणीयत्वादिभिः=परमात्मा ही सभी के लिये सर्वप्रकार से आश्रयण  
करने योग्य हैं, इत्यादि जो भगवान् के गुण हैं, ऐसे उन स्वभावैः=भगवान् के  
स्वभावों से, समस्तवस्त्वन्तरविलक्षणतया=अपने से भिन्न समस्त वस्तुओं से  
विलक्षण के रूप में, पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपादितः=भगवान् नारायण ही पुरुषोत्तम के  
रूप में गीता में प्रतिपादित हैं, यह ही सम्यगीरितः का सम्यक्त्व है।  
समन्वयसूत्रवत्=ब्रह्मसूत्र का जो तत्तु समन्वयात् सूत्र है, वहाँ पर भी अन्वय-शब्द  
के पहले सम्-उपसर्ग को रखा गया है और वह निरतिशय अर्थ को दिखाता है।  
उसी तरह यहाँ पर भी निरतिशय-पुरुषार्थत्व-विवक्षया=निरतिशय-पुरुषार्थ  
बताने की इच्छा से सम् उपसर्ग को ईरितः के साथ रखा गया है।

इस तरह गीतार्थसंग्रह के प्रथम श्लोक से गीताशास्त्र का सार संक्षेप में  
एक श्लोक से बताया गया। गीता में तीन षट्क हैं, प्रथम षट्क, मध्यम षट्क

## ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगलक्ष्ये सुसंस्कृते। आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पूर्वषट्केन चोदिते॥२॥

अथ त्रिभिः श्लोकैस्त्रयाणां षट्कानामर्थं सङ्गृह्णाति।

ज्ञानात्मिका निष्ठा ज्ञानयोगः। कर्मात्मिकानिष्ठा कर्मयोगः। नितिष्ठत्यस्मिन्नर्थेऽधिकर्तव्येऽधिकारीति निष्ठा। नियता स्थितिरेव वा निष्ठा। यावत्फलं स्थिरपरिगृहीतमुपायानुष्ठानमित्यर्थः। अनयोः स्वरूपं व्यञ्जयिष्यति 'कर्मयोगस्तपस्तीर्थः' (गी.सं.२३) इत्यादिना।

.....  
और अन्तिम षट्क। प्रत्येक षट्क में छह-छह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय से षष्ठ अध्याय तक प्रथमषट्क, सप्तमाध्याय से द्वादशाध्याय तक मध्यम षट्क और त्रयोदशाध्याय से अष्टादशाध्याय तक अन्तिमषट्क। अब आगे एक-एक श्लोक से एक-एक षट्क का सारांश बता रहे हैं। उसमें मूल के द्वितीय श्लोक से प्रथम षट्क का अर्थ बतलाया जा रहा है।

श्लोकार्थः- सुसंस्कृते=सुपरिमार्जित, योगलक्ष्ये=योगप्राप्ति ही लक्ष्य हैं जिनके, ऐसी दो निष्ठायें, जो ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे=ज्ञानयोगात्मक (ज्ञानयोगनिष्ठा) और कर्मयोगात्मक (कर्मयोगनिष्ठा) हैं, आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे=आत्मानुभूति की सिद्धि के लिये पूर्वषट्केन=पूर्वषट्क अर्थात् प्रथमाध्याय से षष्ठाध्याय तक के प्रथम षट्क से, चोदिते= बतायी गयी हैं॥

अथ त्रिभिः। अब तीन श्लोकों से तीन षट्कों के तत्त्वार्थ का संग्रह कर रहे हैं। उसमें प्रथम षट्क का इस श्लोक से बताया जा रहा है।

ज्ञानकर्मात्मिके। ज्ञानात्मिका निष्ठा ज्ञानयोग है और कर्मात्मिका निष्ठा कर्मयोग है।

निष्ठे। निष्ठा शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुये कहते हैं कि नितिष्ठति अस्मिन् अर्थे अधिकर्तव्ये अधिकारी अर्थात् अच्छी तरह से स्थित रहता है अर्थ में अधिकृतकार्य, निर्धारित कर्तव्य में अधिकारी उसे निष्ठा कहते हैं। अथवा नियतरूप से योगयुक्त रहना ही निष्ठा है। यहाँ नि उपसर्गपूर्वक स्था धातु से निष्ठा शब्द निष्पन्न हुआ है। इस तरह निष्ठा-शब्द का तात्पर्य बनता है- शास्त्रविहित कर्म में पूर्णतया स्थित रहना। जब तक फल की प्राप्ति न हो तब तक किञ्चित् भी चलायमान न होकर स्थिर रूप से उपाय का अनुष्ठान करते रहना

योगलक्ष्ये- योगः साध्यतया लक्ष्यमुद्देश्यं ययोस्ते योगलक्ष्ये।  
अत्र कर्मनिष्ठया ज्ञाननिष्ठामारुह्य तया योगप्राप्तिरिति द्वैतीयः क्रमः।  
तार्तीयस्तु ज्ञाननिष्ठाव्यवधानमन्तरेण कर्मनिष्ठयैव यावद्योगारम्भं  
दृढपरिगृहीतया अन्तर्गतात्मज्ञानतया शिष्टतया व्यपदेश्यानां लोकानुविधेया-  
नुष्ठानानामितरेषामपि निष्प्रमादसुकरोपायसक्तानां योगावाप्तिरिति।

.....  
निष्ठा है। ज्ञानयोगनिष्ठा और कर्मयोगनिष्ठा का निरूपण आगे मूल में ही  
कर्मयोगस्तपस्तीर्थम् ( २३ ) इत्यादि श्लोकों से करने वाले हैं।

**योगलक्ष्ये**। योग ही साध्य के रूप में लक्ष्य, उद्देश्य है जिनका, उसे  
योगलक्ष्य कहते हैं। यहाँ **योगो लक्ष्यं यस्याः** ऐसे विग्रह में बहुव्रीहिसमास होकर  
**योगलक्ष्या** शब्द निष्पन्न हुआ है। विशेष्यभूत निष्ठा-शब्द का विशेषण होने के  
कारण योगलक्ष्य-शब्द भी स्त्रीलिंग में **योगलक्ष्या** बना हुआ है। निष्ठा का द्विवचन  
**निष्ठे** है तो योगलक्ष्या का द्विवचन **योगलक्ष्ये** है। इसी तरह **सुसंस्कृते**,  
**ज्ञानकर्मात्मिके** भी द्विवचन हैं। ये दोनों शब्द भी **निष्ठे** के विशेषण हैं।

**द्वैतीयः** अर्थ है द्वितीय से सम्बन्धित। यहाँ पर कर्मनिष्ठा के द्वारा  
ज्ञाननिष्ठा में आरूढ़ होकर योग की प्राप्ति करना, यह द्वितीय क्रम है। इसका  
तात्पर्य यह है कि पहले कर्मयोग की सिद्धि हो और उसके बाद ज्ञानयोग में  
अधिकृत हो। यही द्वितीय क्रम है।

तृतीय क्रम का तात्पर्य यह है कि कर्मयोग में ही अवस्थित रहना और  
उससे ही लक्ष्य प्राप्त करना। उसका तात्पर्य यह है कि कर्मयोग में स्थित होते हुये  
ज्ञानयोग में आरूढ़ हुये बिना ही सिद्धि को प्राप्त करना।

गीताभाष्य में श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने सिद्ध किया है कि कर्मयोग में  
भी अन्तर्गतज्ञानता है। स्वस्वरूप (जीवात्मा का यथार्थस्वरूप) और परस्वरूप  
(परमात्मा का स्वरूप) के ज्ञान के बिना कर्मयोग नहीं बन सकता। स्वस्वरूपादिज्ञान  
ही ज्ञान है। इस तरह ज्ञाननिष्ठा के व्यवधान के बिना ही कर्मनिष्ठा के द्वारा सीधे  
ही जब तक योग का आरम्भ होता है, तब तक दृढपरिगृहीत होकर अपने को  
सुस्थिर रखना। उसके बाद कर्मयोग के ज्ञानान्तर्गत होने के कारण कर्मयोग का  
अनुष्ठान करते रहना। जो लोक में शिष्टों के रूप में परिचित हैं, उनके द्वारा तो  
कर्मयोग का अनुष्ठान अवश्य ही होना चाहिये, क्योंकि लोक तादृश शिष्टों का ही  
अनुकरण करता है। मेरा अनुष्ठान देखकर अन्य लोग भी इसी तरह अनुष्ठान करते

योगोऽत्रासनादिविशेषपरिकरवान् साक्षात्कारार्थमात्मावलोकना-  
परनामा चित्तसमाधानविशेषरूपो व्यापारः, तत्साध्यसाक्षात्कार एव वा।  
तेन स्मृतिसन्ततिविशेषरूपात् स्वकारणभूतज्ञानयोगात् स्वकार्यभूतादात्मानु-  
भवाच्च भेदः।

सुसंस्कृते परमात्माधीनत्वतत्प्रीत्यर्थत्वफलान्तरसङ्गरहित्यादि-  
बुद्धिविशेषैः परिकर्मिते इत्यर्थः।

.....  
रहेंगे, ऐसा सोचकर स्वयं आचरण करते हुए अन्य लोगों को भी कर्मयोग में  
अभिप्रेरित करना।

कर्मयोग में प्रमाद की सम्भावना ज्ञानयोग की अपेक्षा न्यून है और  
ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग सुकर (सरल, आसान) भी है, अतः अन्यलोगों को  
योग की प्राप्ति हो सके, इस तरह स्वयं कर्मयोग में स्थित रहते हुए योग तक  
पहुँचना। यह तृतीय क्रम है। इस तरह कर्मयोग में पूर्णतया स्थित होकर शिष्टों के  
रूप में मान्य लोक में विधेय अनुष्ठानों का सम्पादन करने वाले, उनके अतिरिक्त  
प्रमाद रहित होकर सुकर उपायों में सक्त महात्माओं द्वारा योग की प्राप्ति तृतीय  
क्रम है।

योगोऽत्रासनादिविशेषपरिकरवान्। ऊपर जो योग की प्राप्ति बतायी  
गयी है, उसमें योग का अर्थ- आसन, प्राणायाम आदि परिकरों के साथ साक्षात्कार  
के लिए आत्मावलोकन नामक चित्तसमाधानविशेष रूप व्यापार, क्रिया को समझना  
चाहिये। योग-शब्द के विविध अर्थ हैं। वैसे जिससे लक्ष्य की प्राप्ति हो, वह योग  
है। गीता में योगः कर्मसु कौशलम्, समत्वं योग उच्यते इत्यादि योग के लक्षण  
बताये गये हैं किन्तु प्रकृत श्लोक के योग-शब्द का अर्थ आसनादि परिकरों के  
साथ चित्तसमाधानरूप क्रिया ही है और उसका दूसरा नाम है आत्मावलोकन।  
अथवा कर्मयोग से साध्य आत्मा के साक्षात्कार को भी योग कहा जा सकता है।  
इस तरह स्मृतिसन्तानविशेषरूप स्वकारणभूतज्ञानयोग से और स्वकार्यभूत आत्मानुभव  
से भी उक्त योग का भेद सिद्ध होता है।

सुसंस्कृते। अब श्लोकोक्त सुसंस्कृते पद का अर्थ बता रहे हैं। परमात्मा  
के अधीन रहना, परमात्मा की प्रीति के लिये ही सब कैंकर्यों का अनुष्ठान करना,  
परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी फल की आकांक्षा न रखना, किसी भी  
वस्तु में आसक्ति न रखना, इत्यादि प्रकार के बुद्धिविशेष से विशिष्ट होना ही

आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे- 'सुखमात्यन्तिकं यत्तत्' (गीता-६.२१) इत्याद्युक्तप्रकारेण वैषयिकानन्दविलक्षणस्येतरसमस्तवैतृष्ण्यावह-सुखस्वभावप्रत्यगात्मसाक्षात्कारविशेषरूपसिद्धिविशेषप्रयोजने इत्यर्थः।

पूर्वषट्केन चोदिते- कर्तव्यतयानुशिष्टे इति यावत्। तादर्थ्यादुपोद्घातरूपस्य प्रथमाध्यायस्य 'न त्वेवाहम्' (गीता-२.१२) इत्यतः पूर्वस्य द्वितीयाध्यायैकदेशस्य च तदनुप्रवेशवाचोयुक्तिः। आहुश्चोपोद्घातलक्षणम्- 'चिन्तां प्रकृतिसिद्ध्यर्थमुपोद्घातं प्रचक्षते' इति। एवमनेन श्लोकेन प्रथमषट्कस्यावरतत्त्वविषयव्यवहितोपायपरत्त्वमुक्तम्॥२॥

.....

सुसंस्कृत है। ऐसी सुसंस्कृत योगनिष्ठा होनी चाहिये। सुसंस्कृते भी निष्ठे का विशेषण होने के कारण यह द्विवचन है।

**आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे।** अब श्लोकोक्त आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पद का तात्पर्य बता रहे हैं। गीता के छठे अध्याय में बताया गया है कि इन्द्रियों से अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित यह योगी परमात्मा के स्वरूप से विमुख होता ही नहीं, वह आत्यन्तिक सुख है और वही आत्मानुभूति है। उक्त प्रकार से विषय-सम्बन्धी सुखों से विलक्षण, इतर समस्त वस्तुओं से वितृष्णा रखते हुये केवल सुखस्वभाव वाले प्रत्यगात्मा जीवात्मा से साक्षात्कार विशेष रूप सिद्धि ही जिसका प्रयोजन है, उसे आत्मानुभूति कहते हैं। ऐसी आत्मानुभूति की सिद्धि के लिये- यह अर्थ आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पद का है। वेदान्त में प्रत्यक् और पराक् शब्दों का व्यवहार हुआ है। जो अपने लिये स्वयं प्रकाशता है, उसे प्रत्यक् कहते हैं। जीवात्मा और परमात्मा को प्रत्यक् कहा गया है, क्योंकि ये अपने लिये स्वयं प्रकाशते हैं। अचतेन पदार्थ पराक् हैं, क्योंकि वे दूसरों के लिये प्रकाशते हैं, अपने लिये नहीं। यहाँ रक्षाग्रन्थ में प्रत्यगात्मा का अर्थ जीवात्मा है और तादृश प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार अर्थात् आत्मावलोकन रूप विशेष सिद्धि ही प्रयोजन के लिये, यह अर्थ आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पद का है।

**पूर्वषट्केन चोदिते=** पूर्वषट्क के द्वारा (सुसंस्कृत, योगलक्ष्य ज्ञानयोगात्मिका एवं कर्मयोगात्मिका निष्ठा) कर्तव्य के रूप में प्रेरित किये गये हैं, यह सारांश है। प्रथमाध्याय उपोद्घात के रूप में है और द्वितीयाध्याय का न त्वेवाहं जातु नासम् से पूर्व का भाग भी उपोद्घात ही है। प्रथमाध्याय पूरा और द्वितीयाध्याय के दसवें



## मध्यमे भगवत्तत्त्वयाथात्म्यावाप्तिसिद्धये। ज्ञानकर्माभिनिर्वर्त्यो भक्तियोगः प्रकीर्तितः॥३॥

अथ मध्यमषट्कस्य परतत्त्वविषयाव्यवहितोपायपरत्वमाह।  
पूर्वश्लोके समासस्थस्यापि षट्कशब्दस्यात्र बुद्ध्या निष्कृष्य विपरिणत-  
स्यानुषङ्गः। भगवच्छब्दो मध्यमषट्कोक्तसकलजगदेककारणत्व-  
निर्दोषत्वकल्याणगुणाकरत्वयोगिनि परस्मिन् ब्रह्माणि प्रत्यक्षरं प्रकृतिप्रत्यय-  
रूढिभिश्च भगवत्पराशरादिभिर्निरुक्तो द्रष्टव्यः।

.....  
श्लोक तक गीताशास्त्र की भूमिका बाँधी गयी है और उसके बाद शास्त्ररहस्य में प्रवेश कराने की वाचोयुक्ति (वाणी की संगति) की गयी है। उपोद्घात का लक्षण इस तरह से बताया गया है- 'प्रकृत विषय की सिद्धि के चिन्तन को उपोद्घात कहते हैं।' इस तरह इस श्लोक से प्रथम षट्क के अवरतत्त्व विषय से व्यवहित उपायपरत्व को ही कहा गया है॥२॥

द्वितीय श्लोक का विवरण पूर्ण हुआ। अब तृतीय श्लोक से मध्यम षट्क का प्रतिपाद्य विषय बता रहे हैं-

श्लोकार्थः- मध्यमे=मध्यम षट्क में, भगवत्तत्त्व के याथात्म्य=यथावस्तु, यथार्थ रूप से, अवाप्ति=ज्ञान की, सिद्धये=प्राप्ति के लिये, ज्ञानकर्म-अभिनिर्वर्त्यः=ज्ञानयोग और कर्मयोग से सम्पादनीय, भक्तियोगः=भक्तियोग का, प्रकीर्तितः=सम्यक् प्रकार से वर्णन किया गया है।

अब मध्यम षट्क को बताया गया है कि यह षट्क परतत्त्वविषय-अव्यवहितोपायपरत्व=जिस उपाय के अनन्तर परतत्त्वविषयक ज्ञान होता है, तत्परक है। पूर्वश्लोक=द्वितीयश्लोक में पूर्वषट्केन ऐसा समासयुक्त पद है। उसमें से बुद्धि से समस्तपद के एकदेश षट्क-शब्द को निकालकर उसे सप्तम्यन्त में विपरिणाम करके इस श्लोक में अन्वित किया गया है- मध्यमे षट्के। तात्पर्य यह है कि जब दो पदों में समास हो जाता है तो वह समस्त पद कहलाता है और समस्त पद में विद्यमान एक भाग को निकालकर उत्तरश्लोक में ले जाना असम्भव है किन्तु यहाँ पर बुद्धि से पूर्वषट्केन इस समस्त पद में से केवल षट्केन पद को निकालकर उसका सप्तमीविभक्ति में विपरिणाम करके षट्के ऐसा बना लिये गया है। प्रकृत श्लोक में मध्यमे पद है। इस तरह मध्यमे पद विशेषण और षट्के

यस्यैष सङ्ग्रहः-

‘तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः।

शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः॥’ (वि.पु.६.५.७७) इति।  
अयं च ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वे निदर्शनतया शारीरकभाष्यारम्भे दर्शितो भगवच्छब्दवदिति। भक्तेषु भागवतसमाख्या च भजनीये भगवच्छब्दस्य नामधेयतां व्यनक्ति। भगवानेव तत्त्वं भगवत्तत्त्वं, तत्त्वमिह प्रामाणिकः पदार्थः।

.....  
पद विशेष्य बन जाता है। यहाँ श्लोक में भगवत् शब्द है और उसका अर्थ है- परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीमन्नारायण। भगवत्तत्त्व को मध्यम षट्क में सकल जगत् के एकमात्र कारणत्व, सकलदोषराहित्य, सकलकल्याणयोगित्व से परिपूर्ण परब्रह्म बताया गया है। प्रकृति, प्रत्यय और रूढि के द्वारा भगवत्-शब्द का विष्णुपुराण आदि में भगवान् पराशर आदि के द्वारा जिस तरह से निर्वचन किया गया है, उस तरह के भगवत्-शब्द को यहाँ प्रकृत श्लोक में कहा गया है। भगवत्-शब्द का विष्णुपुराण में जिस तरह निर्वचन किया गया है, उसे रक्षाकार ने नीचे दिया है।

**यस्यैष संग्रहः।** महर्षि पराशर जी ने जिस भगवत्तत्त्व को बताया है, उसके विषय में विष्णुपुराण में एक श्लोक सार के रूप में है, जिसका अर्थ है- भगवत्-शब्द पूज्यपदार्थ का कथन करता है और उसकी विशिष्ट परिभाषा भी है किन्तु यह सब परमात्मा में किसी उपचार या व्यवहारतः नहीं है अपितु शब्द की प्रकृति, प्रत्यय, रूढि और परिभाषा से समन्वित अर्थ से युक्त है, तथा अन्यत्र अन्य लोगों में जो भगवत्-शब्द का प्रयोग होता है, वह उपचार से या भगवान् से प्राप्त शक्ति के लेशमात्र से श्रेष्ठता आदि को दर्शाने के लिये है। जैसा कि भगवान् पराशर, भगवान् पाणिनि इत्यादि।

**अयं च।** गीतार्थसंग्रह में प्रोक्त यह भगवत्-शब्द परब्रह्म परमात्मा में ही मुख्य है, अर्थात् गौणप्रयोग नहीं है। जिस तरह दृष्टान्ततया शारीरिकमीमांसा भाष्य (श्रीभाष्य) आदि में दिखाया गया है- भगवच्छब्दवत् आदि प्रयोगों से, उसी तरह यहाँ भगवत्-शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ में ही हुआ है।

भक्तों में भागवत शब्द का प्रयोग होता है। भगवत्-शब्द से ही भागवत शब्द की सिद्धि होती है। भगवान् से सम्बन्धित ही भागवत होते हैं। भागवत-शब्द

तत्त्वेन प्रवेष्टुमित्यस्यार्थं व्यनक्ति- याथात्म्यावाप्तिसिद्धये इति।  
ऐश्वर्यादिपुरुषार्थान्तरोक्तेरात्मानन्यार्थत्वमनेन सूचितम्। याथात्म्यमत्र  
अनवच्छेदेन पुष्कलमनारोपितं रूपम्। अवाप्तिरनवच्छिन्नानन्दतयानुभूतिः,  
सैव सिद्धिः। पुरुषार्थकाष्ठारूपत्वात्तस्या वा सिद्धिर्लब्धिः।

‘ज्ञानकर्माभिनिर्वृत्य’ इत्यनेन प्रथममध्यमषट्कयोः क्रमनियामकः  
सङ्गतिविशेषः सूचितः। तदनुसारेण सप्तमारम्भे भाष्यम्- ‘प्रथमेनाध्यायषट्केन  
परमप्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो निरवद्यस्य निखिलजगदेककारणस्य सर्वज्ञस्य

.....  
से भक्तों के द्वारा भजनीय भगवान् ही है और भगवान् शब्द विशेष्य है, विशेषण  
नहीं है, यह व्यक्त करता है। भगवान् ही तत्त्व हैं और वह तत्त्व वेद, उपनिषद्,  
पुराणों के प्रमाणों से सिद्ध है।

तत्त्वेन। प्रकृत पद्य में याथात्म्यावाप्तिसिद्धये शब्द से यह व्यक्त किया  
गया है कि जो गीता में भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं  
च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप इस श्लोक में बताया गया तत्त्वतः ज्ञान, दर्शन और  
प्रवेश की ओर सूचित किया गया है, यही याथात्म्यावाप्तिसिद्धि है। ऐश्वर्यप्राप्ति  
आदि भी दूसरे पुरुषार्थ हैं किन्तु वे यहाँ पर नहीं लिये गये हैं। आत्मा के  
अनन्यशेषत्व, अनन्यभोग्यत्व और अनन्यार्हत्व इन आकारत्रयसम्पन्नता की ओर  
सूचित किया गया है। अर्थात् आत्मा परमात्मा का ही शेष है, परमात्मा का ही भोग्य  
है और परमात्मा के ही योग्य है, और किसी का नहीं, यह निर्देश किया गया है।  
यहाँ पर याथात्म्यशब्द से अनवच्छिन्न भगवान् का पुष्कल रूप जो किसी तरह  
आरोपित नहीं है, यथार्थ है, यह बताया गया है। अवाप्तिशब्द से अनवच्छिन्न  
आनन्द की अनुभूति बतायी गयी है और ऐसे भगवान् के अनारोपित पुष्कल रूप  
के आनन्द की निरन्तर अनुभूति ही याथात्म्यावाप्तिसिद्धि है। पुरुषार्थ की  
पराकाष्ठा=चरमसीमा भगवान् की प्राप्ति ही है, अतः ऐसी उपलब्धि को ही सिद्धि  
कहा गया है। इस तरह प्रकृत श्लोकार्थ के सभी पदों का विवेचन किया गया।

ज्ञानकर्माभिनिर्वृत्य। प्रकृत श्लोकोक्त ज्ञानकर्माभिनिर्वृत्य शब्द से  
प्रथम और मध्यम षट्क के नियामक संगतिविशेष को सूचित किया गया है। जैसे  
कि सप्तमाध्याय के आरम्भभाष्य में श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी ने कहा है-

जो प्राप्त करने योग्य वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, जो सर्वथा दोषरहित हैं,  
जो सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र कारण हैं और जो सबको सदा सब प्रकार से जानते

सर्वभूतात्मभूतस्य सत्यसङ्कल्पस्य महाविभूतेः श्रीमन्नारायणस्य प्राप्त्युपायभूतं तदुपासनं वक्तुं तदङ्गभूतात्मज्ञानपूर्वककर्मानुष्ठानसाध्यं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनमुक्तम्। इदानीं मध्यमेन षट्केन परब्रह्मभूतं परमपुरुषस्वरूपं तदुपासनञ्च भक्तिशब्दवाच्यमुच्यते। तदेतदुत्तरत्र- 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' (गीता-१८.४६) इत्यारभ्य 'मद्भक्तिं लभते पराम्' (गीता-१८.५४) इति संक्षिप्य वक्ष्यते' इति।

भक्तिरेव योगो भक्तियोगः, 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गति-युक्तिषु' (अमरकोषे नानार्थवर्गे-१७९) इति पाठाद्योगशब्दोऽत्र उपायपरः। ध्यानपरत्वेऽपि सामान्यविशेषरूपतयान्वयसिद्धिः।

प्रकीर्तितः=स्वरूपत इति कर्तव्यतातो विषयतः कार्यतश्च प्रकृष्टतया कीर्तित इत्यर्थः॥३॥

.....  
हैं तथा जो सबके अन्तर्यामी होने के कारण सभी प्राणी जिनके शरीर हैं, जिनका संकल्प सदा ही सत्य है, जिनकी विभूतियाँ महान् और अनन्त हैं, उन परब्रह्म श्रीमन्नारायण की प्राप्ति के उपायभूत उनकी उपासना का वर्णन करने के लिये प्रथम छह अध्यायों में उपासना के अंगरूप आत्मज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठान से सिद्ध होने वाले आत्मसाक्षात्कार का अर्थात् प्राप्तिकर्ता जीवात्मा के यथार्थ स्वरूपदर्शन का वर्णन किया गया। अब मध्यम-षट्क (बीच के छह अध्यायों) में परब्रह्मरूप परमपुरुष का स्वरूप और भक्ति शब्द से बतलायी जाने वाली उनकी उपासना का विवेचन किया जाता है। इसी भक्ति को आगे चलकर अठारवें अध्याय में 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स कर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (जिससे प्राणियों की प्रवृत्ति हुयी है जिससे यह सब (जगत्) व्याप्त है, उसकी अपने कर्मों से आराधना करक मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है (भ.गी.१८.४६) से आरम्भ करके 'विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते। ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति॥ समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥' (परमात्मा की उपासना करने वाला ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न तो शोक करता है, न आकांक्षा करता है, वह सब भूतों में सम हुआ मेरी परम-भक्ति को प्राप्त होता है (भ.गी.४८.५४) तक इस प्रकार कहेंगे। यह गीताभाष्य यहाँ पर उद्धृत किया गया है। यहाँ तादृश भाष्य का उद्धरण करके रक्षक यह बताना चाहते हैं कि जो

## प्रधानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वरविवेचनम्। कर्म धीर्भक्तिरित्यादिः पूर्वशेषोऽन्तिमोदितः॥४॥

एवं षट्कद्वयोक्तनानाविधतत्त्वहितविशोधनपरं क्रमादन्तिमे षट्के त्रिकद्वयमित्यभिप्रायेणाह- प्रधानम्=कारणावस्थमचिद् द्रव्यम्।

.....  
प्रकृत श्लोक में भक्तियोगः प्रकीर्तितः कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि मध्यम-षट्क (बीच के छह अध्यायों) से परब्रह्मरूप परमपुरुष भगवान् श्रीमन्नारायण का स्वरूप और भक्ति शब्द से बतलायी जाने वाली उनकी उपासना का विवेचन किया गया है।

**भक्तिरेव।** भक्ति रूप योग ही भक्तियोग है अर्थात् भक्तिरेव योगः ऐसा कर्मधारय समास करके भक्तियोग शब्द निष्पन्न हुआ है। अमरकोष के नानार्थवर्ण में योग-शब्द के अर्थ बताये गये हैं- सन्नहन, उपाय, ध्यान, सङ्गति और युक्ति। अतः योग-शब्द का यहाँ पर उपाय अर्थ लिया गया है। भक्तिरूप उपाय को मध्यम षट्क में बताया गया है। यदि ध्यान रूप अर्थ भी लिया जाता है तब भी सामान्य-विशेष रूप से अन्वय की सिद्धि की जाती है। भक्तिरूप ध्यान। ध्यान सामान्य है और उसका अन्वय विशेष भक्ति के साथ किया जायेगा।

**प्रकीर्तितः** का अर्थ बता रहे हैं- मध्यमषट्क में कर्तव्य के रूप में, विषय के रूप में और कार्य के रूप में अच्छी तरह से भक्तियोग का विवेचन किया गया है॥३॥

तृतीय श्लोक से मध्यम षट्क के विषयवस्तु का उपस्थापन करके अब अगले श्लोक से अन्तिम षट्क का विवेच्य निर्देश करते हैं-

**श्लोकार्थः-** प्रधान=प्रकृति, पुरुष=जीव, व्यक्त=महत् आदि तथा, सर्वेश्वर=परब्रह्म परमात्मा का, विवेचनम्=विवेचन एवं कर्म=कर्मयोग, धीः=ज्ञानयोग और भक्ति=भक्तियोग इत्यादि के विषय में जो पूर्वषट्क में बताने रह गया था, उन सबका विवेचन अन्तिम षट्क में किया गया है।

**एवम्।** इस तरह से प्रथम षट्क और द्वितीय षट्क में वर्णित नानाविध तत्त्व और हित से सम्बन्धित विषयों का विशेष विशोधन (स्पष्टतया प्रतिपादन) अन्तिम षट्क में क्रमशः दो त्रिकों (तीन अध्यायों के समूह) से किया गया है। अर्थात् अन्तिम षट्को दो भागों में विभाजित किया गया है- त्रयोदश, चतुर्दश और पञ्चदश अध्यायों का एक त्रिक तथा षोडश, सप्तदश और अष्टादश अध्यायों का

पुरुषः=अचिन्मिश्रावस्थो विशुद्धावस्थश्च। व्यक्तं तु महदादिविशेषान्तं तदारब्धदेवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपं च कार्यजातम्। सर्वेश्वरः='यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' (गीता-१५.१७) इत्युक्तः पुरुषोत्तमः। एतेनार्वाचीनपरिच्छिन्नेश्वरव्यवच्छेदः। समाख्या चैषा सार्था भगवतः 'अजः सर्वेश्वरः सिद्धः' (विष्णुसहस्रनाम) इति तन्नामपाठात्। एतेषां विवेचनम्- परस्परव्यावर्तको धर्मः, तेन वा पृथक्त्वानुसन्धानम्। कर्म धीर्भक्तिरिति कर्मयोगादीनां स्वरूपग्रहणम्। इति-निर्दिष्टपदार्थवर्गः आदिर्यस्य स इत्यादिः। आदिशब्देन तदुपादानप्रकारः तदुपयुक्तशास्त्रवश्यत्वादिकं च गृह्यते। 'पूर्वशेष' इत्यनेन प्रकृतशोधनरूपतया पुनरुक्तिपरिहारः सङ्गतिप्रदर्शनञ्च।

.....  
 एक त्रिक। प्रथम त्रिक से क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तम का प्रतिपादन तथा द्वितीय त्रिक से कर्म, बुद्धि और भक्ति का विवेचन किया गया है।

**प्रधानम्।** प्रधान-शब्द से कारणावस्था में अवस्थित अचिद् द्रव्य को कहा गया है, जिसे प्रकृति भी कहते हैं।

**पुरुषः।** पुरुष-शब्द से अचिद् से मिश्र एवं शुद्ध अवस्था वाला जीव बतलाया गया है। जो पूर्णतया संसारी जीव है, उसे अचिन्मिश्र जीव कहते हैं और जो ब्रह्मविद्योपासक जीव है, उसे विशुद्ध जीव या अक्षर भी कहा गया है।

**व्यक्तम्।** व्यक्त शब्द से महत् (बुद्धितत्त्व) से लेकर विशेष पर्यन्त के पदार्थ और महत् से उत्पन्न होने वाले देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि के रूप आदि कार्य वस्तुओं को कहा गया है। जिनकी उत्पत्ति और विनाश होता है, उसे कार्य कहते हैं। देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि के शरीर कार्य ही हैं। आत्मा कार्य नहीं है, क्योंकि वह उत्पत्ति-विनाशशील नहीं है।

**सर्वेश्वरः।** सर्वेश्वर-शब्द से परमात्मा को बताया गया है। जो गीता के पन्द्रहवें अध्याय में बताया गया है कि जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका भरण करता है और वह अव्यय है तथा वह सर्वसमर्थ है। उक्त श्लोकोक्त ईश्वर ही यहाँ पर सर्वेश्वर-शब्द का तात्पर्य है।

**एतेनार्वाचीनपरिच्छिन्नेश्वरव्यवच्छेदः।** प्रकृत श्लोक में सर्वेश्वर पद होने के कारण परिच्छिन्न और अर्वाचीन इन्द्र, वरुण, कुबेर, शम्भु इत्यादियों को

अयं श्लोकस्त्रयोदशारम्भभाष्येण स्पष्टं व्याख्यातः- 'पूर्वस्मिन् षट्के परमप्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो वासुदेवस्य प्राप्त्युपायभूत-भक्तिरूपभगदुपासनाङ्गभूतं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनं ज्ञानयोग-कर्मयोगलक्षणनिष्ठाद्वयसाध्यमुक्तम्। मध्यमे च परमप्राप्यभूतभगव-त्तत्त्वयाथात्म्यतन्माहात्म्यज्ञानपूर्विकैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगनिष्ठा प्रतिपादिता। अतिशयितैश्वर्यापेक्षाणामात्मकैवल्यमात्रापेक्षाणां च भक्तियोगस्तत्तदपेक्षितसाधनमिति चोक्तम्। इदानीमुपरितने तु षट्के प्रकृतिपुरुषतत्संसर्गरूपप्रपञ्चेश्वरतद्याथात्म्यकर्मज्ञानभक्तिस्वरूपतदुपादान-प्रकाराश्च षट्कद्वयोदिता विशोध्यन्त' इति।

.....  
जो ईश्वर कहा गया है, उन सबका व्यावर्तन होता है, अर्थात् सर्वेश्वर परमात्मा का विवेचन है, न कि सामान्य इन्द्र आदि ईश्वरों का।

**समाख्या चैषा सार्था भगवतः।** परमात्मा को ही सर्वेश्वर कहना सार्थक भी है। जैसा कि विष्णुसहस्रनामस्तोत्र में कहा गया है- **अजः सर्वेश्वरः सिद्धः।** इन सबका विवेचन इस अन्तिम षट्क में है।

**विवेचन-**शब्द का तात्पर्य है कि पदार्थों के परस्पर विरुद्ध धर्म का कथन या तादृशधर्मकथन से पृथक्त्वेन उनका अनुसन्धान करना। **कर्म, धीः और भक्तिः** इन शब्दों से उनके स्वरूपों का कथन समझना चाहिये। **इति-**शब्द से श्लोक में निर्दिष्ट पदार्थों का वर्ग समझना चाहिये। **आदि-**शब्द से कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के निष्पादन करने का प्रकार और उनके उपयोगी शास्त्रविषय प्रमाण आदि समझने चाहिये।

**पूर्वशेष इत्यनेन।** यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कर्म ज्ञान आदि का प्रतिपादन तो प्रथम षट्क में हो चुका है और भक्ति का प्रतिपादन मध्यम षट्क से किया गया है, ऐसी स्थिति में पुनः कर्म, ज्ञान, भक्ति का निरूपण अन्तिम षट्क में क्यों? इसका उत्तर देते हुये रक्षाकार कहते हैं कि **पूर्वशेष-**शब्द से ही पुनरुक्ति नहीं है, ऐसा सूचित होता है, क्योंकि पूर्वषट्कों में जो बात बतानी रह गयी थी, उनका विवेचन यहाँ पर किया जायेगा, यह समझना चाहिये और पूर्वविषय से उत्तरविषय की संगति समझनी चाहिये। इस तरह पुनरुक्ति नहीं है।

**अयं श्लोकः।** पूर्व के दो षट्कों का विशोधन (स्पष्टीकरण) ही

अत्र त्रिकभेदविवक्षा च षोडशारम्भे दर्शिता- 'अतीतेनाध्याय-  
त्रयेण प्रकृतिपुरुषयोर्विभक्तयोः संसृष्टयोश्च याथात्म्यं तत्संसर्गवियोगयोश्च  
गुणसङ्गतद्विपर्ययहेतुकत्वं, सर्वप्रकारेणावस्थितयोः प्रकृतिपुरुषयो-  
र्भगवद्विभूतित्वं, विभूतिमतो भगवतो विभूतिभूतादचिद्वस्तुनश्चिद्वस्तुनश्च  
बद्धमुक्तोभयरूपादव्ययत्वव्यापनभरणस्वाम्यैरर्थान्तरतया पुरुषोत्तमत्वेन च  
याथात्म्यञ्च वर्णितम्' (गीताभाष्यम् अ.१६) इति। तदत्र तृतीयषट्के  
तत्त्वविशोधनपरं प्रथमत्रिकम्। अनुष्ठानशोधनपरं द्वितीयमिति प्रायिकतयायं  
विभागो ग्राह्यः॥४॥

.....  
अन्तिम षट्क में किया गया है, इस तरह का भाव गीताभाष्यकार श्री रामानुजाचार्य  
स्वामी जी ने तेरहवें अध्याय के आरम्भभाष्य से स्पष्ट किया है। जैसा कि- पहले  
षट्क में परम प्राप्य परब्रह्म भगवान् वासुदेव की प्राप्ति की उपायभूता भक्तिरूप  
भगवत्-उपासना का अंगरूप, जो प्राप्तिकर्ता प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का यथार्थ  
स्वरूपज्ञान है, जिसकी प्राप्ति ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनों निष्ठाओं से होती  
है, उसका वर्णन किया गया है। मध्यम षट्क में परमप्राप्य भगवान् के स्वरूप का  
यथार्थ तत्त्व और उसे माहात्म्य-ज्ञान सहित ऐकान्तिक, आत्यन्तिक भक्तियोग निष्ठा  
का प्रतिपादन किया गया तथा यह भी कहा जा चुका कि अतिशय ऐश्वर्य की  
इच्छा करने वालों के लिये एवं एक मात्र आत्मा की कैवल्यस्थिति की इच्छा करने  
वालों के लिये भी भक्तियोग ही उन-उन की अपेक्षापूर्ति का साधन है। अब इस  
अन्तिम षट्क में प्रकृति और पुरुष का, उन दोनों के संसर्गरूप प्रपंच का, ईश्वर  
के यथार्थ स्वरूप का, कर्म, ज्ञान और भक्ति के स्वरूप का और उन-उन को  
प्राप्त करने के प्रकारों का अर्थात् पिछले दो षट्कों में जिनका वर्णन किया गया  
है, उन सब प्रसंगों का स्पष्टीकरण किया जाता है। (यहाँ तक तेरहवें अध्याय के  
प्रारम्भ भाष्य की बात बतायी गयी)।

**अथ त्रिकभेदविवक्षा।** तृतीय षट्क में दो त्रिकों के भेद का कथन  
गीता के सोलहवें अध्याय के श्री रामानुजभाष्य के आरम्भ में प्रदर्शित है। जैसा  
कि- इससे पहले के तीन अध्यायों (तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें) में परस्पर  
संसर्ग रहित और परस्पर संसर्गयुक्त प्रकृति और पुरुष का यथार्थ स्वरूप बतलाया  
गया तथा यह भी कहा गया कि उनके संसर्ग में गुणों का संग कारण है और संसर्ग



**अस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम्।**

**पार्थ प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्॥५॥**

एवं शास्त्रार्थः षट्कत्रयार्थश्च चतुर्भिः श्लोकैः सङ्गृहीतः। इतः परमष्टादशभिः श्लोकैः प्रत्यध्यायमर्थाः सङ्गृह्यन्ते। तत्र शोक-तदपनोदनरूपकथावान्तरसङ्गत्या महर्षिणा प्रथमद्वितीयाध्यायविभागे कृतेऽपि शास्त्रैतदुपोद्धातरूपार्थविभागज्ञापनाय द्वितीयैकदेशमपि प्रथमश्लोकेन सङ्गृह्णाति। तद्व्यञ्जनाय च तमुवाच हृषीकेश (गीता-२.१०) इत्यस्मात् पूर्वमर्थव्याख्यानपूर्वकमयं श्लोको भाष्यकारैरुदाहृतः-

.....  
रहित होने में गुणों के संग का अभाव कारण है अर्थात् प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) का संसर्ग गुणों के कारण होता है तथा गुणों का संग न होने पर उन दोनों का संसर्ग नहीं होता। वहाँ उस त्रिक में यह भी बताया गया कि सब प्रकार से स्थित प्रकृति और पुरुष दोनों ही भगवान् की विभूतियाँ हैं। अपनी विभूतिरूप अचेतन वस्तु से एवं बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के चेतन आत्माओं से उन विभूतियों का स्वामी भगवान् अव्यय, व्यापक, भर्ता और स्वामी होने के कारण भिन्न वस्तु है, इस प्रकार भगवान् को पुरुषोत्तम बतलाकर उनके यथार्थ स्वरूप का भी वर्णन किया गया है। तृतीय षट्क के दो त्रिकों में से प्रथम त्रिक तत्त्वों (तत्त्वत्रय) का स्पष्ट प्रतिपादन करता है और द्वितीय त्रिक अनुष्ठान, उपासनाओं का स्पष्ट प्रतिपादन करता है, प्रायः इस तरह का त्रिक विभाग समझना चाहिये।

इस तरह प्रथम श्लोक से गीता का सार, द्वितीय श्लोक से प्रथम षट्क का सार, तृतीय श्लोक से मध्यम षट्क का सार और चतुर्थ श्लोक से अन्तिम षट्क का सार बतलाकर अब अगले पाँचवें श्लोक से गीता के प्रथमाध्याय का सारसंग्रह करते हैं-

श्लोकार्थः- अस्थान=अनुचित स्थान पर, स्नेहकारुण्य=स्नेह और कारुण्य, धर्माधर्म=धर्म और अधर्म की, धिया=बुद्धि के कारण, आकुलम्=आकुल हुये, प्रपन्नम्=शरणागत, पार्थम्=पार्थ अर्जुन को, उद्दिश्य=उद्देश करके (बहाना बनाकर) प्रथम अध्याय में, शास्त्र-अवतरणं कृतम्=गीताशास्त्र का अवतरण किया गया है।

इस तरह गीताशास्त्र का अर्थ चार श्लोकों से संक्षेप में बताया गया है।

‘एवमस्थाने समुपस्थितस्नेहकारुण्याभ्यामप्रकृतिङ्गतं क्षत्रियाणां युद्धं परमधर्ममप्यधर्मं मन्वानं धर्मबुभुत्सया च शरणागतं पार्थमुद्दिश्य आत्मयाथात्म्यज्ञानेन युद्धस्य फलाभिसन्धिरहितस्यात्मप्राप्त्युपायताज्ञानेन च विनास्य मोहो न शाम्यतीति मत्वा भगवता परमपुरुषेण अध्यात्म-शास्त्रावतरणं कृतम्। तदुक्तम्-

‘अस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम्।

पार्थ प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्।’ इति।

.....  
इससे आगे अठारह श्लोकों से प्रत्येक अध्यायों का सारार्थ संगृहीत किया गया है। आगे के सत्रह श्लोकों में तो अध्यायों की द्वितीये, तृतीये आदि संख्या बतायी गयी है किन्तु इस पंचम श्लोक में ‘प्रथम अध्याय का अर्थ है’ ऐसा नहीं बताया गया। इसका एक कारण है- शोक और उसके निवारण के लिये चर्चा करना व अवान्तर संगति (प्रथम अध्याय से दूसरे अध्याय का सम्बन्ध) बिठाने के लिये महर्षि वेदव्यास जी ने यद्यपि प्रथम, द्वितीय अध्याय का विभाग किया है किन्तु शास्त्र और उसका उपोद्घात (प्रतिपाद्य विषय को हृदयंगम करने के लिये पहले समझने योग्य विषय) रूप अर्थविभाग का ज्ञापन करने के लिये द्वितीय अध्याय के एकदेश (दूसरे अध्याय के दशम श्लोक तक) की बात इस प्रथमश्लोक से संगृहीत किया गया है। इस तरह उपोद्घात प्रथम अध्याय से प्रारम्भ होकर दूसरे अध्याय के दसवें श्लोक में जाकर पूरा होता है। अतः प्रथमेऽध्याये ऐसा नहीं कहा। इसी बात को सूचित करने के लिये तमुवाच हृषीकेश (दूसरे अध्याय के दसवें श्लोक) से पूर्व अर्थव्याख्यान पूर्वक गीतार्थसंग्रह के इस श्लोक को भाष्यकार ने उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रकृत मूलश्लोक का उद्धरण देते हुए श्रीभाष्यकार ने गीताभाष्य में निम्नलिखित भूमिका प्रस्तुत की है-

**एवमस्थाने।** गीता के द्वितीयाध्याय नौवें श्लोक का भाष्य इस प्रकार है- इस प्रकार असमय में उत्पन्न स्नेह और करुणा के कारण जो अपने स्वभाव से विचलित हो गया है, क्षत्रियों के लिये युद्ध परमधर्म होने पर भी जो उसे अधर्म मान रहा है और जो धर्म को समझने की इच्छा से भगवान् के शरणागत हो गया है, उस अर्जुन को निमित्त बनाकर परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण ने यह समझकर कि आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान के बिना और फलाभिसन्धि से रहित स्वधर्म रूप युद्ध

अस्थानस्नेहकारुण्याभ्यां जाता धर्माधर्मधीः अस्थानस्नेहधर्माधर्म-  
धीरिति अत्र भाष्याभिप्रायः। बन्धुस्नेहेन परया च कृपया धर्मभयेन च  
अतिमात्रस्विन्नसर्वाङ्गः (गीताभाष्ये-अ.१) इति प्रथमाध्यायान्त-  
भाष्यानुसारेण। 'धर्माधर्मभयाकुलम्' इति पाठे त्रयाणां द्वन्द्वः। धर्माधर्मभयं  
रज्जुसर्पभयमिति वत्। उद्दिश्य=व्याजीकृत्येत्यर्थः। तदेतत्सूचितमारम्भे  
'पाण्डुतनययुद्धप्रोत्साहनव्याजेन' इति। प्रपन्नत्वात् तमुद्दिश्येति विवक्षितम्।  
तदपि सूचितम्- 'अस्य मोहो न शाम्यतीति मत्त्वा' इति।

.....  
आत्मा के यथार्थज्ञान का उपाय है- इस बात को समझे बिना इसका मोह शान्त  
नहीं होगा, अतः अध्यात्मशास्त्र का वर्णन आरम्भ किया। गीतार्थसंग्रह में कहा भी  
गया है- असमय में स्नेह, करुणा और धर्माधर्म के भय से व्याकुल होकर शरण  
में आये हुये अर्जुन के लिये गीताशास्त्र का उपदेश आरम्भ किया गया है।

**अस्थानस्नेह०।** युद्धस्थान पर स्नेह और करुणा होना अनुचित ही है।  
अतः अस्थानस्नेहकारुण्य कहा गया है। अस्थानस्नेहकारणधर्माधर्मधी इतने  
भाग का तात्पर्य है- अनुचित स्थान पर असमय में स्नेह और करुणा के कारण  
उत्पन्न जो धर्म और अधर्म की बुद्धि। इसी अर्थ में भाष्यकार का आशय है।  
बन्धुस्नेह के कारण अत्यन्त करुणा से और धर्महानि के भय से अर्जुन का शरीर  
पसीने-पसीने हो गया था। यही तात्पर्य गीता प्रथमाध्याय से अन्तिम भाग के भाष्य  
से सूचित होता है। कहीं कहीं धर्माधर्मधियाकुलम् की जगह धर्माधर्मभयाकुलम्  
ऐसा पाठभेद मिलता है, उस स्थिति में धर्म, अधर्म और भय इन तीन शब्दों में  
द्वन्द्वसमास समझना चाहिये। तब अर्थ इस तरह होगा- धर्म, अधर्म और भय से  
व्याकुल। धर्माधर्मभय रज्जु से सर्प के भय की तरह समझना चाहिये। उद्दिश्य का  
अर्थ होता है- उसका बहाना बनाकर। इसी बात को गीताभाष्यकार श्री रामानुजाचार्य  
स्वामी जी ने गीता के आरम्भ में कहा है- पाण्डुतनययुद्धप्रोत्सानव्याजेन (पाण्डु  
के पुत्र अर्जुन को युद्ध में प्रोत्साहित करने का बहाना बनाकर परमपुरुषार्थ मोक्ष  
के साधनरूप से वेदान्त में वर्णित ज्ञानकर्म के द्वारा साध्य स्वविषयक भक्तियोग  
को प्रकट किया)। उस समय अर्जुन ही शरणागत थे, अतः उन्हें ही लक्ष्य बनाना  
उचित था, यह बात भी सूचित होती है। अर्जुन को उद्देश्य करने का कारण यह  
भी था कि अहो! सामान्य उपाय से इसका मोह शान्त नहीं होगा, कोई विशेष  
उपाय ही करना पड़ेगा। इसी बात को भाष्यकार सूचित करते हुये कहते हैं- अस्य

तदत्र 'तमुवाच' इत्यादिश्लोकत्रयपर्यन्तो ग्रन्थः शास्त्रावताररूपः। तावत्सङ्ग्रहणायान्न श्लोके प्रथमाध्याय इत्यनुक्तिः। अस्ति ह्युत्तरेषु सप्तदशसु तत्तदध्यायग्रहणम्। अनन्तरे च सङ्ग्रहश्लोके 'न त्वेवाहं जातु नासम्' इत्यादेरर्थमभिप्रेत्य द्वितीयग्रहणम्। स च द्वितीयान्ते व्याख्यानपूर्वकमुद्धृतः- 'एवमात्मयाथात्म्यं युद्धाख्यस्य कर्मणस्तत्प्राप्तिसाधनतामजानतः शरीरात्मज्ञानेन मोहितस्य तेन मोहेन युद्धान्निवृत्तस्यास्य मोहशान्तये नित्यात्मविषया साङ्ख्यबुद्धिस्तत्पूर्विका च असङ्गकर्मानुष्ठानरूपकर्मयोग-विषया बुद्धिः स्थितप्रज्ञतायोगसाधनभूता द्वितीयाध्याये प्रोक्ता। तदुक्तम्- 'नित्यात्मासङ्ग.....मोहशान्तये' इति॥५॥

.....  
मोहो न शाम्यतीति मत्त्वा। अतः शरणागत जीव का मोह शमन करके आत्मयाथात्म्यबोध पूर्वक भक्ति में प्रवृत्त कराके के लिये भक्तिशास्त्र गीता का अवतरण भगवान् ने किया है।

तदत्र। यहाँ गीता के द्वितीय अध्याय के तमुवाच हृषीकेशः ( २. १०-१२ ) से तीन श्लोक तक का भाग शास्त्र का अवतार अर्थात् उपदेश का प्रारम्भ समझना चाहिये। शास्त्रावतरण केवल प्रथम अध्याय में पूरा नहीं हुआ है किन्तु द्वितीय अध्याय के दसवें श्लोक तक है, इस बात को सूचित करने के लिये गीतार्थसंग्रह के इस लोक में प्रथमाध्याय-शब्द का उच्चारण नहीं किया है। इसके बाद तो सत्रहों अध्यायों में अध्यायसंख्या को सूचित किया गया है। द्वितीय अध्याय के बारहवें श्लोक न त्वेवाहं जातु नासम् इत्यादि से प्रारम्भ मान कर द्वितीयाध्याय से सम्बन्धित पाठ समझना चाहिये, न कि तं तथा कृपयाविष्टम् इत्यादि प्रथम श्लोक से। द्वितीयाध्याय का सारसंग्रह करते हुये भाष्यकार ने अध्याय के अन्त में कहा है कि- अर्जुन यह नहीं जान पा रहे थे कि आत्मा का यथार्थस्वरूप क्या है? और यह भी नहीं नहीं जान पा रहे थे कि तत्तत् वर्ण एवं आश्रम के लिये शास्त्रों में विहित कर्मों का अनासक्तिपूर्वक अनुष्ठान करना भी आत्मप्राप्ति के साधन हैं। वे शरीर में आत्मबुद्धि रखने के कारण मोहित हो रहे थे। इस प्रकार दूसरे अध्याय में आत्मा के यथार्थस्वरूप को और युद्धरूप कर्म उस आत्मा की प्राप्ति का साधन है, इस बात को न जानने वाले और शरीर को हि आत्मा समझकर मोहित हुये तथा उसी मोह के कारण युद्ध से विरत हुए अर्जुन के प्रति

## नित्यात्मासङ्गकर्महागोचरा साङ्ख्ययोगधीः। द्वितीये स्थितधीलक्षा प्रोक्ता तन्मोहशान्तये॥६॥

सङ्ख्यया बुद्ध्या अवधारणीयमात्मतत्त्वं साङ्ख्यम्, तद्विषयबुद्धिः साङ्ख्यधीः, नित्यात्मगोचरेति तद्विवरणम्। एवमत्र असङ्गकर्महाशब्देनापि योगशब्दार्थविवरणादपौनरुक्त्यम्। स्थितधीः=स्थितप्रज्ञता, ज्ञाननिष्ठेत्यर्थः। सा साध्यत्वेन लक्षं यस्याः सा तथोक्ता। तन्मोहशान्तये=उक्तप्रकारस्य अर्जुनस्य देहात्मादिभ्रमनिवृत्त्यर्थम्।

.....  
उसके मोह की शान्ति के लिये भगवान् ने नित्य-आत्मविषयक सांख्यबुद्धि अर्थात् आत्मा नित्य है, इस विषय के ज्ञान के साथ आसक्तिरहित कर्मानुष्ठान रूप कर्मयोगविषयक बुद्धि बतलाते हुये स्थितप्रज्ञतारूप योग को प्राप्त कराने वाली बुद्धि का वर्णन किया है। ऐसा ही अगले अध्याय के सारसंग्रह श्लोक में भी किया है। जैसे कि दूसरे अध्याय में कहा गया है- 'उस अर्जुन के मोह की शान्ति के लिये नित्यात्मज्ञान-विषयक सांख्यबुद्धि और आसक्तिरहित कर्मानुष्ठानविषयक योगबुद्धि, जिनका साध्य स्थितप्रज्ञता है- भगवान् ने कही॥५॥

इस तरह पाँचवें श्लोक से गीता के प्रथमाध्याय का सारसंग्रह किया गया है। अब छठे श्लोक से गीता के द्वितीयाध्याय का सारसंग्रह करते हैं-

श्लोकार्थः- तन्मोहशान्तये=उस अर्जुन के तादृश मोह की शान्ति के लिये, नित्य-आत्मा-असङ्गकर्म-ईहा-गोचरा=आत्मा नित्य है इस विषय का ज्ञान पूर्वक आसक्तिरहित कर्मानुष्ठान से प्राप्त होने वाली, सांख्ययोगधीः= सांख्ययोगबुद्धि, स्थितधीलक्षा=जिनका साध्य या लक्षण स्थितप्रज्ञता है, उसे द्वितीये=दूसरे अध्याय में, प्रोक्ता=भगवान् ने बताया है॥

सांख्य बुद्धि को कहते हैं, उसके द्वारा अवधारणीय आत्मतत्त्व को सांख्य कहा जाता है। सांख्यविषयक बुद्धि ही सांख्यधी है। उसकी व्याख्या है- नित्यात्मगोचरा है अर्थात् आत्मा नित्य है, इस तरह अनुभव करने वाली बुद्धि सांख्यधी कहलाती है। प्रकृत श्लोक में सांख्यधीः शब्द आया है, उसका विवेचन उपर्युक्त रीति से किया गया। सांख्य का सम्बन्ध धी-शब्द से है और असङ्गकर्महाशब्द योग-शब्द के अर्थ का विवरण है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। नित्यात्मगोचरा का सम्बन्ध सांख्यधीः के साथ और असङ्गकर्महागोचरा का सम्बन्ध योगधीः

एवं द्वितीयाध्यायोक्तस्य प्रपञ्चनरूपतया षष्ठान्तानां चतुर्णामेकपेटिकात्वम् एकीकरणार्थं तृतीयारम्भे भाषितम्—

‘तदेवं मुमुक्षुभिः परमप्राप्यतया वेदान्तोदितनिरस्तनिखिला-विद्यादिदोषगन्धानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणपरब्रह्म-पुरुषोत्तमप्राप्त्युपायभूतवेदनोपासनध्यानादिशब्दवाच्यतदैकान्तिका-त्यन्तिकभक्तिं वक्तुं तदङ्गभूतं ‘य आत्मा अपहतपाप्मा’ इत्यादि-प्रजापतिवाक्योदितं प्राप्तुरात्मनो याथात्म्यदर्शनं तन्नित्यताज्ञान-पूर्वकासङ्गकर्मनिष्पाद्यज्ञानयोगसाध्यमुक्तम्’ इत्यारभ्य ‘अतः परमध्याय-चतुष्टयेन इदमेव प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो दर्शनं ससाधनं प्रपञ्च्यते’ इति॥६॥

.....  
के साथ होने के कारण पुनरुक्ति नहीं है। ईहा का अर्थ चेष्टा, प्रयत्न है और गोचर-शब्द का अर्थ है ग्रहण की जाने वाली या साध्य होने वाली। इस तरह स्थितप्रज्ञता लाने वाली बुद्धि नित्यात्मसांख्यबुद्धि और असंगकर्मकमगोचरा योगबुद्धि होती है। तादृश बुद्धि का द्वितीय अध्याय में प्रतिपादन है।

**स्थितधीः** का अर्थ है स्थितप्रज्ञता अर्थात् ज्ञाननिष्ठा (ज्ञानयोग में सुदृढ़ अवस्थिति)। ज्ञाननिष्ठा ही साध्य के रूप में लक्ष्य=उद्देश्य है जिसका उसे स्थितधीलक्षा कहा गया है। तन्मोहशान्तये=उक्त प्रकार के अर्जुन की जो देह और आत्मा के विषय में भ्रम है या देह ही आत्मा है, इस तरह की भ्रमबुद्धि है, उसकी निवृत्ति के लिये, द्वितीयाध्याय में तादृश बुद्धि का ही विवेचन है।

**एवं द्वितीयाध्यायोक्तस्य।** द्वितीय अध्याय के इस सारवस्तु को छोटे अध्याय तक अर्थात् तृतीय, चतुर्थ पंचम और षष्ठ इन चार अध्यायों को एक पेटिका में एकीकरण, एकत्रित, संगृहीत है, इस बात को जताने के लिये गीताभाष्य के तृतीयाध्याय के आरम्भभाष्य में भगवान् श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी ने कहा है कि—

तदेवम्.....। ‘जो मुमुक्षु पुरुषों के द्वारा प्राप्त करने योग्य वेदान्तों में वर्णित परतत्त्व है, वह निरस्त-अखिल-अविद्यादि-दोषगन्ध=अविद्या आदि सम्पूर्ण दोषों की गन्ध से रहित है। वह अतिशय-असंख्येय-कल्याण-गुणगण=असीम अतिशय असंख्य कल्याणमय गुणों का समूह है। वह तत्त्व परब्रह्म-पुरुषोत्तम=परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीमन्नारायण ही है। प्राप्ति-उपायभूत=उसकी प्राप्ति का

## असक्त्या लोकरक्षायै गुणेष्वारोप्य कर्तृताम्। सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता॥७॥

असक्त्या=परमपुरुषप्रीतिव्यतिरिक्तस्वर्गादिफलसङ्गत्यागपूर्वक-  
मित्यर्थः।

.....  
उपाय परभक्ति ही है, जो वेदन-उपासन-ध्यान-आदि-शब्द-वाच्य=वेदन, उपासन और ध्यान आदि नामों से कथित है। तादृश वेदन आदि के द्वारा ऐकान्तिकभक्ति=ऐकान्तिक भक्ति (अन्य देवता और अन्य फलों के आश्रय से रहित भक्ति) और आत्यन्तिकभक्ति वक्तुम्=आत्यन्तिक भक्ति (अत्यन्त दुःखराशि के अभाव और अप्रमेय सुखप्राप्ति के एकमात्र निर्दोष और अव्यय साधनरूप) भक्तियोग का वर्णन करने के लिये, यहाँ तक उसके अंगभूत मुमुक्षु जीवात्मा के यथार्थ स्वरूपज्ञान को जिसका वर्णन य आत्मा अपहतपात्रा इत्यादि प्रजापतियों के वाक्यों में (उपनिषदों में) किया गया है तथा जो प्राप्तकर्ता आत्मा का याथाम्यदर्शन (आत्मा यथार्थस्वरूप का ज्ञान) ही है और आत्मा की नित्यता का ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले आसक्तिरहित कर्मों के फलरूप ज्ञानयोग से प्राप्त होता है, ऐसा कहा गया है। यह उक्त तृतीयाध्याय का आरम्भभाष्य है। इस तरह आरम्भ में कहने के बाद इसी क्रम के आगे भाष्यकार कहते हैं- 'अब यहाँ से आरम्भ करके तृतीय से षष्ठ अध्याय पर्यन्त चार अध्यायों के द्वारा इस मुमुक्षु जीवात्मा के स्वरूपज्ञान का ही विषय साधनों सहित विस्तार के साथ कहा जाता है' इत्यादि। इस तरह भाष्यवचन से सिद्ध होता है कि जो बात द्वितीयाध्याय में बतायी गयी है, उसी का विस्तार करके तृतीयाध्याय से षष्ठाध्याय तक एकपेटिका की गयी है, जो मुमुक्षु जीवात्मा के लिये स्वस्वरूपज्ञान का ही विषय है और स्वस्वरूपज्ञान के लिये उसके उपाय भी बताये गये हैं॥६॥

श्लोकार्थः- असक्त्या=अनासक्ति रूप से, लोकरक्षायै= लोकरक्षार्थ अर्थात् लोकशिक्षार्थ, कर्तृताम्=कर्तृत्व (कर्तापन) को, गुणेषु आरोप्य=सत्त्व, रजस् और तमस् रूप गुणों में आरोप करके, वा=अथवा, सर्वेश्वरे=सर्वेश्वर परमात्मा में, न्यस्य=समर्पण करके, कर्मकार्यता=कर्म करने की बात, तृतीये उक्ता=तीसरे अध्याय में बतायी गयी है।

असक्त्या। मूलश्लोकोक्त असक्ति का अर्थ अनासक्ति है। परमपुरुष भगवान् की प्रीति के लिये किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त स्वर्ग एवं लौकिक

लोकरक्षायै=अनुविधेयानुष्ठानस्य कृत्स्नविदः स्वानुष्ठानानुसन्धानेन अकृत्स्नविदः शिष्टलोकस्य निष्प्रमादलुण्टाकरहितघण्टापथप्रवर्तनार्थ-मित्यर्थः। एतेन लोकसङ्ग्रहशब्दो व्याख्यातः।

.....  
समस्त फलों की आसक्ति का त्यागपूर्वक कर्मों का आचरण करना चाहिये। यही असक्ति शब्द का तात्पर्य है।

**लोकरक्षायै।** मूलोक्त लोकरक्षायै पद का तात्पर्य है कि आत्मयाथात्म्य के ज्ञानी व्यक्ति को भी लोकरक्षाय के शास्त्रोक्त कर्म करते रहना चाहिये। तादृश ज्ञानी द्वारा अपने अनुष्ठानों का अनुसन्धान करके जो आत्मयाथात्म्य के ज्ञाता नहीं हैं किन्तु शिष्ट हैं, ऐसे लोगों को प्रमाद रहित होकर लुटेरों से रहित कर्म के घण्टापथ में प्रवर्तन कराने की प्रेरणा होती रहनी चाहिये। कर्मयोग लुण्टाक-रहित घण्टापथ है अर्थात् इस योग में पतन आदि का भय नहीं है। यदि सिद्ध लोग कर्मों का अनुष्ठान न करें तो सामान्य लोग उनका अनुकरण करके नित्य, नैमित्तिक एवं अवश्यकर्तव्य कर्मों का त्याग करने लगेंगे, जिससे होने वाली हानि का दोष उन सिद्ध लोगों पर भी आता है। इसी लिये गीता में कहा गया है-

**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कम समाचर।**

**असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥३.१९॥** अर्थात् इस लिये तुम अर्जुन आसक्तिरहित होकर कर्म करते रहो, क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ ही परमात्मा को प्राप्त होता है।

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।**

**लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥३.२०॥** अर्थात् जनक आदि सिद्ध लोग भी आसक्तिरहित कर्म के आचरण से ही परमसिद्धि को प्राप्त हुये हैं। इसके अतिरिक्त लोकसंग्रह को देखते हुए भी तुम्हें कर्म ही करना चाहिये।

**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**

**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥३.२१॥** क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरा पुरुष भी वह-वह ही अथवा वैसा ही आचरण करता है। वह श्रेष्ठ पुरुष जितने प्रमाण में करता है, संसार उसके पीछे चलता है।

**न मे पार्थस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।**

**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥३.२२॥** हे पार्थ! यद्यपि मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है, और न किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त



एवं लोकरक्षणार्थं प्रवृत्तेरन्ततः स्वरक्षापर्यन्तं भाष्योक्तम्- 'अन्यथा लोकनाशजनितं पापं ज्ञानयोगादप्येनं प्रच्यावयेत्' (गी. भा. ३. २१) इति।

गुणेषु सत्त्वरजस्तमस्संज्ञकेषु प्रकृतिगुणेष्वित्यर्थः। आरोप्य कर्तृताम्। स्वस्य देशकालावस्थादिनियतविषयज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाश्रयत्वलक्षणां कर्तृतां गुणप्रयुक्ततया अनुसन्धायेत्यर्थः। तथा च भाष्यम्- 'गुणेषु कर्तृत्वानुसन्धानं च इदमेवात्मनो न स्वरूपप्रयुक्तमिदं कर्तृत्वम्, अपितु गुणसम्पर्ककृतमिति प्राप्ताप्राप्तविवेकेन गुणकृतमित्यनुसन्धानम्' (गी. भा. ३. २९) इति।

.....  
करना ही है, तथापि मैं कर्ममार्ग में लगा रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥३.२३॥ हे अर्जुन! यदि मैं सजग रहकर कदाचित् कर्म में प्रवृत्त न होऊँ तो सब मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करेंगे अर्थात् कर्महीन हो जायेंगे, वे भी कर्मों को छोड़ देंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम्।

सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥३.२४॥ फलतः यदि मैं कर्म न करूँ तो मेरे पीछे चलकर ये सब लोक नष्ट हो जायें और मैं फिर वर्णसंकर का कर्ता बनूँ तथा इन प्रजाओं का नाश करने वाला होऊँ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥३.२५॥ इस लिये हे भारत! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीलोग जिस तरह कर्म करते हैं, उसी तरह ही ज्ञानी को भी अनासक्त होकर केवल लोकसंग्रह चाहते हुए कर्म करना चाहिये।

गीता के तृतीयाध्याय के ऊपर के सात श्लोकों में दो बार लोकसंग्रह शब्द आया है। अपने अनुष्ठानों का अनुसन्धान करके जो आत्मयाथात्म्य के ज्ञाता नहीं हैं किन्तु शिष्ट हैं, ऐसे लोगों को प्रमाद रहित होकर लुटेरों से रहित कर्म के घण्टापथ में प्रवर्तन कराने की प्रेरणा देना लोकरक्षा है। इस तरह लोकरक्षा-शब्द की व्याख्या करने से लोकसंग्रह की भी व्याख्या हो जाती है। लोकरक्षा के लिये कर्म करते रहने का तात्पर्य स्वरक्षा भी है। लोकरक्षार्थ कर्म करने से अपनी रक्षा कैसे हो सकती है! इसका विवेचन गीताभाष्य में भगवान् श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी ने इस तरह किया है- यदि ज्ञानीजन लोकरक्षा के कर्म न करें तो लोकनाश से उत्पन्न पाप इन्हें (ज्ञानियों को) ज्ञानयोग से भी गिरा देगा। अतः आत्मयाथात्म्यज्ञानी

‘मयि सर्वाणि कर्माणि’ इत्यत्रास्मच्छब्दाभिप्रेतं व्यनक्ति- सर्वेश्वरे वा न्यस्येति। गुणानां तदाश्रयस्य त्रिगुणद्रव्यस्य तत्संसृष्टस्य वियुक्तस्य च जीवस्य नियन्तरि भगवति तस्यास्तन्मूलत्वभावनया निवेश्येत्यभिप्रायः।

.....  
शिष्टलोगों को लोकशिक्षार्थ कर्म करते रहना चाहिये। मैं स्वयं ज्ञानयोगादि से नीचे न गिरूँ, एतदर्थं शास्त्रोक्त कर्म का आचरण करते रहना चाहिये।

मूलश्लोक में गुणेषु कर्तृताम् आरोप्य ये पद हैं। उनमें गुणेषु का अर्थ है- सत्त्व, रजस्, तमस् नामक प्रकृति के तीन गुण। कर्तृताम् आरोप्य अर्थात् इन गुणों में कर्तृपन का आरोप कर देना चाहिये। तात्पर्य यह है मैं कर्ता नहीं हूँ अपितु उक्त गुण ही विविध कर्म कराते हैं, ऐसा मानना चाहिये। शास्त्रों में जीवात्मा को कर्ता कहा गया है, क्योंकि कर्मफलों का भोक्ता जीव ही है। जो करता है वही भोगता है, यह नियम है। अतः अपने में विद्यमान कर्तृत्व (कर्तापन) प्रकृति के तीनों गुणों में आरोपित कर देना चाहिये, ऐसा भाव है।

**स्वस्य देशकाल०।** कर्मयोगी को चाहिये कि अपने देश, काल, अवस्था आदि से नियतविषयक ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न रूप कर्तापन तीन गुणों के द्वारा प्रयुक्त होता है, ऐसा अनुसन्धान करे। जैसा कि गीताभाष्य में भगवान् श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी महाराज ने बताया कहा है- गुणों में कर्तापन का अनुसन्धान करना उसे कहते हैं- यह मेरी आत्मा के द्वारा प्रयुक्त कर्तापन नहीं है अपितु गुणों के सम्पर्क में आने के कारण आत्मा में कर्तृत्वभाव आता है, आदि प्राप्त-अप्राप्त का विवेक करके गुणों के कार्य का अनुसन्धान करना। प्राप्ताप्राप्तविवेक एक न्याय है। यह अन्वयव्यतिरेक जैसा ही है। यदि मैं स्वयं कर्ता होऊँगा तो कर्मों का फल भी मुझे ही भोगना पड़ेगा और यदि मैं अपने को कर्ता न मानकर प्रकृति के गुणों में कर्तृत्व का आरोप करता हूँ तो मेरे द्वारा कर्म हो जाने पर भी उनका फल मुझे भोगना नहीं पड़ेगा। इस तरह यहाँ प्राप्ताप्राप्तविवेक न्याय का समन्वय किया जाता है।

अथवा मयि सर्वाणि कर्माणि ( ३.३० ) गीता के उक्त श्लोक में जिस तरह से भगवान् ने समस्त कर्म मुझ में समर्पण करो, ऐसा कहा है, उस अस्मत्-शब्द (मयि) के द्वारा कहे गये ईश्वर को ही यहाँ पर सर्वेश्वर कहा गया है। इसके पहले प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों में कर्तृत्व-निक्षेप की बात बतायी गयी थी, अब उसकी अपेक्षा परमात्मा में कर्तृत्वनिक्षेप की बात बतायी

सूत्रकारश्च 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (ब्र.सू.२.३.३३) इत्यात्मनः कर्तृत्वमुपपाद्य अनन्तरं तस्य परमात्माधीनत्वं 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र.सू.२.३.४०) इत्याह। सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसन्धानप्रकारश्चैवं भाषितः- 'इदानीमात्मनां परमपुरुषशरीरतया तन्नियाम्यत्वस्वरूपनिरूपणेन भगवति पुरुषोत्तमे सर्वात्मभूते गुणकृतं च कर्तृत्वमारोप्य कर्मकर्तव्यतोच्यते' (गी.भा-३.३०) इति।

जा रही है। कर्तृत्व का निक्षेप चाहे प्रकृति के गुणों में करो चाहे परमात्मा में करो। वैसे प्रकृतिगुणों की अपेक्षा परमात्मा में कर्तृत्वनिक्षेप करना उत्तम है, क्योंकि प्रकृति के गुण भी परमात्मा के द्वारा ही नियन्त्रित हैं। गुण, गुणाश्रित द्रव्य, त्रिगुणद्रव्य, त्रिगुणों के सम्पर्क में विद्यमान या उनसे पृथक् स्थित जीवात्मा के सर्वविध नियन्त्रणकर्ता परब्रह्म परमात्मा ही हैं। अतः गुण आदि की कर्तृता भी परमात्मामूलक ही है, ऐसा हृदय से मानकर के, कर्तृत्व समर्पण करना- यह है, सर्वेश्वरे न्यस्य वा का तात्पर्य। इस तरह यह सिद्ध किया गया है कि कर्मयोगी को अपने में विद्यमान कर्मकर्तृत्व त्रिगुणों में या परमात्मा में निक्षेप करके 'मैं कर्ता नहीं हूँ' ऐसा अनुसन्धान करना चाहिये।

सूत्रकारश्च। ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास जी ने भी 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (ब्रह्मसूत्रम् २.३.३३) से आत्मा में कर्तृत्व का उपपादन करके उसके बाद के परात्तु तच्छ्रुतेः (ब्र.सू.२.३.४०) से जीवात्मा का कर्तृत्व परमात्माधीन होने की बात कही है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि जीवात्मा में कर्मों का कर्तृत्व (कर्तापन) है तथापि वह जीवात्मा का कर्तृत्व ईश्वराधीन है, स्वतन्त्र नहीं है। गीताभाष्यकार श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी ने भी तीसरे अध्याय के तीसवें श्लोक की अवतरणिका में सर्वेश्वर में कर्तृत्वानुसन्धान करने का प्रकार इस तरह बताया है- 'सभी जीव परमपुरुष के शरीर हैं और परमात्मा जीवों की अन्तर्यामी आत्मा हैं। शरीर आत्मा के अधीन होता है। अतः जीवात्माओं के आत्माभूत परमात्मा के शासन में रहना ही जीवों का स्वरूप है, ऐसा निरूपण करके गुणकर्तृक कर्तापन को भी सबके आत्मस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् में आरोप करके कर्म करने की विधि बतलाते हैं' इत्यादि। उक्त अवतरणिका का श्लोक है-

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्नस्याध्यात्मचेतसा।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३.३०॥ अर्थात् अध्यात्मचित्त से सब कर्मों को मुझ में निक्षेप करके आशा, ममता और सन्ताप से रहित होकर

पिण्डितार्थश्च दर्शितः- 'स्वकीयेनात्मना कर्त्रा स्वकीयैश्चोपकरणैः स्वाराधनैकप्रयोजनाय परमपुरुषः सर्वशेषी सर्वेश्वरः स्वयमेव स्वकीयकर्माणि कारयति' (गी.भा-३.३०) इत्यादिना॥७॥

.....  
तुम युद्ध करो। परमात्मा सबका अन्तर्यामी है- इस विषय में प्रमाण है- अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् (तै.उ.आन.३.११) सबका आत्मा परमेश्वर सबके भीतर प्रविष्ट हुआ सब जीवों का शासक है। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ.उ.५.७) जो परमात्मा सबके आत्मा में रहता हुआ आत्मा के भीतर है, जिसको आत्मा नहीं जानता है, जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्मा का अन्तर्यामी रूप से नियमन करता है, वह अन्तर्यामी अमृतस्वरूप परमेश्वर तुम्हारा आत्मा है। 'प्रशासितारं सर्वेषाम्' (मनुस्मृति १२.१२२) परमात्मा सबका भलीभाँति प्रशासन करता है। 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' (गीता.१५.१५) मैं परमात्मा सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गीता.१८.६१) हे अर्जुन! ईश्वर यन्त्रारूढ समस्त प्राणियों को अपनी माया से घुमाते हुए सब प्राणियों के हृदय में अवस्थित है॥ इत्यादि प्रमाण पर्याप्त हैं ईश्वर के सर्वसर्वा होने में। अतः मुमुक्षु जीवात्माओं को चाहिये कि अपने कर्तृत्व को भी परमात्मा में समर्पित करके भगवदाराधनारूप कर्मयोग का सम्पादन करे।

**पिण्डितार्थश्च दर्शितः।** उक्त सकल कथन का एकीभूत सार पिण्डितार्थ है और तादृश पिण्डितार्थ को श्रीरामानुज स्वामीजी ने उक्त श्लोक में इस प्रकार से बतलाया है- सर्वशेषी परम पुरुष सर्वेश्वर भगवान् अपने ही जीवात्मारूप कर्ताद्वारा अपने ही द्वारा प्रदत्त इन्द्रियादि करणों से एकमात्र अपनी ही आराधना के लिये अपने-आप ही अपने कर्म करवाते हैं, इत्यादि। सृष्टि करके तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् के अनुसार परमात्मा अन्तर्यामी रूप से जीवात्मा के अन्दर प्रवेश करते हैं। अतः स्वकीयेनात्मना कर्ता कहा गया। इन्द्रिय आदि उपकरण भी परमात्मा के द्वारा प्रदत्त हैं, अतः स्वकीयैः च उपकरणैः कहा गया। वे इन्द्रिय भी भगवदाराधन के लिये परमात्मा द्वारा प्रदत्त हैं, अतः स्वाराधनैकप्रयोजनाय कहा गया। भगवान् परात्पर हैं, अतः परमपुरुषः कहा गया। यह चराचर जगत् परमात्मा की अपनी बनायी हुयी वस्तु है और परमात्मा सबके एक मात्र स्वामी

**प्रसङ्गात् स्वस्वभावोक्तिः कर्मणोऽकर्मतास्य च।**

**भेदा ज्ञानस्य माहात्म्यं चतुर्थाध्याय उच्यते॥८॥**

स्वशब्देनावतीर्णावस्थो भगवानिह विवक्षितः। तस्य स्वभावः स्वासाधारणो भावः। स्वस्वभावोक्तिरुच्यत इत्योदनपाकः पच्यत इतिवत्, क्रियत इत्यर्थः। कर्मणोऽकर्मता 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (गीता-४.१८) इत्यादिभिरुक्ता। अकर्मशब्दोऽत्र तदन्यवृत्त्या कर्मयोगासन्नात्मज्ञानविषयः। अस्य च भेदाः 'दैवमेवापरे यज्ञम्' (गीता-४.२५) इत्यादिनोक्ताः। देवार्चनेन्द्रियनिरोधप्राणायामयागदानहोमतपस्तीर्थसेवास्वाध्यायतदर्थ-भ्यासादिरूपा वर्णाश्रमधर्मेतिकर्तव्यताका यथाज्ञानं यथाशक्ति यथारुचि प्रधानतया परिगृहीताः कर्मयोगावान्तरविशेषा इत्यर्थः।

.....  
हैं, अतः सर्वशेषी कहा गया। ऐसे परमात्मा स्वयं मुझसे विभिन्न स्वकीय कर्म करवाते हैं, ऐसा अनुसन्धान करने पर अपने में कर्तृत्व नहीं रहता, अपितु परमात्मा में निक्षिप्त हो जाता है॥७॥

श्लोकार्थः- प्रसङ्गात्=प्रसंगवश, स्वस्वभावोक्तिः=परमात्मा के स्वभाव का कथन, अस्य कर्मणः अकर्मता च=कर्म की अकर्मता (ज्ञानस्वरूपता), ज्ञानस्य भेदाः=ज्ञान, उसके भेद और, माहात्म्यम्=ज्ञान का माहात्म्य आदि, चतुर्थाध्याये उच्यते=चतुर्थाध्याय में बताये गये हैं।

स्वस्वभावोक्तिः। यहाँ पर स्व-शब्द से श्रीकृष्ण के रूप में अवतार ग्रहण करने वाले भगवान् को लिया गया है। उनका स्वभाव उनका असाधारण भाव ही है। उसी को स्वस्वभावोक्तिः=भगवान् के स्वभाव की उक्ति की कहा है।

स्वस्वभावोक्ति-शब्द के उक्ति शब्द में भी उच्चारणार्थक वच्-धातु है और उच्यते में भी वच् धातु ही है। इस तरह 'स्वभाव की उक्ति की उक्ति' कहना कितना संगत है? यह प्रश्न उपस्थित है। इस पर रक्षाकार यह समाधान दे रहे हैं कि जिस तरह ओदनपाकः पच्यते इस वाक्य में समान ही दो धातुयें हैं-पाकः और पच्यते, किन्तु वहाँ पर पच्यते का अर्थ क्रियते किया जाता है, उसी तरह यहाँ पर भी उच्यते का अर्थ क्रियते अर्थात् किया जाता है, यह अर्थ माना जायेगा। अतः क्रिया की पुनरुक्ति नहीं है। चतुर्थाध्याय में श्रीकृष्ण रूप में अवतरित भगवान् के स्वभाव का वर्णन है। मूलश्लोक के प्रसङ्गात् पद का तात्पर्य यह है

ज्ञानस्य माहात्म्यम्- 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात्' (गीता.४.३३) इत्युक्तं प्राधान्यम्।

.....  
किं यद्यपि अभी चतुर्थाध्याय में परमात्मा का प्रसंग न होकर कर्म की अकर्मता और ज्ञान के माहात्म्य का प्रसंग है, तथापि परमात्मा के स्वभावों का वर्णन किसी प्रसंगवश आ गया था, अतः बीच में ही उनके स्वभावों का वर्णन किया गया है।

**कर्मणोऽकर्मकता।** मूलश्लोक में **कर्मणोऽकर्मता** शब्दों से यह बताया गया है कि चतुर्थाध्याय में कर्म की अकर्मता बतायी गयी है। कर्म की अकर्मता अर्थात् कर्म में कर्मधर्म का न होना। इस तरह कर्म की अकर्मता कैसी हो सकती है? इस विषय में रक्षाकार बता रहे हैं कि '**कर्मण्यकर्म यः पश्येत्**' गीता के उक्त श्लोक में जिस तरह से कर्म में अकर्म को बताया गया है, वही यहाँ पर गृहीत है। उक्त श्लोक में बताया गया है कि 'जो पुरुष कर्म में अकर्म (ज्ञान) और अकर्म (ज्ञान) में कर्म देखे, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वही युक्त है तथा सब कर्मों को करने वाला है' इत्यादि। भगवान् भाष्यकार ने भी कहा है 'अकर्म' शब्द से यहाँ पर कर्म से अतिरिक्त प्रकरण में आया हुआ कर्मयोग के आसन्नवर्ती **आत्मज्ञान** कहा गया है।

श्लोकोक्त अकर्म-शब्द समास की अन्यार्थवृत्ति (लक्षणा आदि) से कर्मयोग के समीपवर्ती आत्मज्ञान के विषय लिये गये हैं। इसके भेद गीता के चतुर्थ अध्याय के पच्चीसवें श्लोक में बताय गये हैं- **दैवमेवापरे यज्ञम्** इत्यादि से। उस श्लोक का अर्थ है- अन्य कर्मयोगी देवपूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान करते हैं, दूसरे ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ से यज्ञ का हवन करते हैं, इत्यादि।

**देवार्चनेन्द्रिय।** भगवान् की आराधना, इन्द्रियों का नियमन, प्राणायाम, याग, दान, होम, तपस्या, तीर्थसेवन, स्वाध्याय, शास्त्रों के अर्थों का अभ्यास आदि वर्णाश्रमधर्म के इतिकर्तव्य अर्थात् अवश्यकरणीय कृत्य आदि यथाज्ञान, यथाशक्ति, यथारूचि प्रधानरूप से परिगृहीत कर्म ही कर्मयोग के अवान्तरविशेष हैं। उक्त सभी विषय कर्मयोग के अवान्तर भेद हैं, ऐसा समझना चाहिये। इस तरह चतुर्थाध्याय में कर्म की अकर्मता (ज्ञानस्वरूपता) बतायी गयी है।

**ज्ञानस्य माहात्म्यम्।** ज्ञान का माहात्म्य अर्थात् कर्मयोग में भी ज्ञान की प्रधानता के विषय में गीता के **श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात्** श्लोक में वर्णन किया गया है। उसका भाव यह है- हे अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। सब कर्म पूर्णतया ज्ञान में समाप्त होते हैं। यही ज्ञान की प्रधानता बतायी गयी है।

अयं च श्लोकस्तृतीयसङ्गतिपूर्वकं चतुर्थारम्भे व्याख्यातः-  
 'तृतीयेऽध्याये प्रकृतिसंसृष्टस्य मुमुक्षोः सहसा ज्ञानयोगेऽनधिकारात् कर्मयोग  
 एव कार्यः। ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि अकर्तृत्वानुसन्धानपूर्वककर्मयोग एव  
 श्रेयानिति सहेतुकमुक्तम्। शिष्टतया व्यपदेश्यस्य तु विशेषतः कर्मयोग  
 एव कार्य इति चोक्तम्। चतुर्थेन इदानीमस्यैव कर्मयोगस्य निखिल-  
 जगदुद्धरणाय मन्वन्तरादावेवोपदिष्टतया कर्तव्यतां द्रढयित्वा अन्तर्गत-  
 ज्ञानतयाऽस्यैव ज्ञानयोगाकारतां प्रदर्श्य कर्मयोगस्वरूपं तद्भेदः कर्मयोगे  
 ज्ञानांशस्यैव प्राधान्यं चोच्यते, प्रसङ्गाच्च भगवदवतारयाथात्म्यमुच्यते'  
 (गी. भा. ४.१. अवतरणिका) इति।

.....  
 चतुर्थाध्याय में यह बताया गया है कि कर्मयोगान्तर्गत ज्ञान भी है और उसमें ज्ञानांश  
 की प्रधानता है। ध्यान रहे कि भाष्यकार ने सभी साधकों के लिये कर्मयोग की  
 अनिवार्यता और उसमें ज्ञानांश की प्रधानता बतायी है।

अयं च श्लोकः। गीतार्थसंग्रह के इस आठवें श्लोक की व्याख्या  
 भाष्यकार श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी महाराज ने गीता के चतुर्थाध्यायभाष्य के  
 प्रारम्भ में तृतीयाध्याय की संगतिपूर्वक व्याख्या इस तरह से की है- 'तृतीय  
 अध्याय में युक्तियों के साथ यह बतलाया गया कि प्रकृति के संसर्ग से युक्त  
 मुमुक्षु साधकों का सहसा ज्ञानयोग में अधिकार नहीं हो पाता, इस लिये उसे  
 कर्मयोग ही करना चाहिये तथा ज्ञानयोग के अधिकारी के लिये भी आत्मा के  
 अकर्तापन को समझते हुए कर्मयोग का साधन ही श्रेयस्कर है। साथ ही यह भी  
 कहा गया कि लोक में विशिष्टरूप से प्रसिद्धि पाये हुए आदर्श पुरुष के लिये तो  
 विशेषरूप से कर्मयोग का आचरण करना ही कर्तव्य है, क्योंकि प्रसिद्ध पुरुषों का  
 अनुकरण अन्य सामान्य लोग किया करते हैं।

चतुर्थेन इदानीम्। वहीं पर फिर भाष्यकार आगे कहते हैं- अब इस  
 चतुर्थ अध्याय में 'मन्वन्तर के आदि में सम्पूर्ण जगत् के उद्धार के लिये मेरे द्वारा  
 कर्मयोग का उपदेश किया गया है' इस कथन से कर्मयोग की ही कर्तव्यता को  
 दृढ़ करके तथा ज्ञानयोग इसके (कर्मयोग के) अन्तर्गत होने के कारण इसकी  
 ज्ञानयोगाकारता भी दिखलाकर, कर्मयोग का स्वरूप, उसके भेद और कर्मयोग में  
 ज्ञान के अंश की ही प्रधानता बतलायी गयी है। साथ ही प्रसंगवश श्रीभगवान् के

ईदृशं चावतारमाहात्म्यमत्र निरमन्थि-

निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्यापि भगवतो जन्म नेन्द्रजालवन्मिथ्या, अपितु सत्यम्, अवतरँश्च भगवानस्मदादिवत्र ज्ञानसङ्कोचादिमान् भवति, किन्तु अजत्वाव्ययत्वसर्वेश्वरत्वादिकं सर्वं पारमेश्वरं स्वभावजमजहदेवावतरति, न चावतारविग्रहोऽप्यस्य गुणत्रयमयः प्राकृतः, प्रत्युताप्राकृतशुद्धसत्त्वमयः, न चास्य जन्म पुण्यापुण्यरूपेण कर्मणा, अपितु स्वेच्छयैव, न वा कर्मविपाककाले अस्य जन्म, अपितु धर्मग्लान्यधर्मोत्थानकाले, नापि भगवज्जन्मनः सुखदुःखमिश्राणि फलानि, अपि तर्हि साधुपरित्राणदुष्कृद्विनाशनधर्मसंस्थापनादीनीति स्वरूपतः प्रकारतो द्रव्यतः कारणतः कालतः प्रयोजनतश्च दिव्यत्वम्।

.....  
अवतार का वास्तविक रहस्य भी कहा जाता है' इत्यादि। इस तरह भाष्यप्रमाण से भी कर्म की अकर्मता अर्थात् ज्ञानस्वरूपता और आदर्श-पुरुषों द्वारा उसका आचरण अनिवार्य बताया गया है।

**ईदृशं चावतरमाहात्म्यम्।** भगवान् भाष्यकार ने गीता की व्याख्या करते हुये भगवान् के अवतार का माहात्य इस तरह मन्थन करके निकाला है- भगवान् समस्त हेय के विरोधी है और कल्याण के एकतान (एक मात्र विस्तार) हैं अर्थात् भगवान् में हेय गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) आदि लेश मात्र भी नहीं है, अपितु सौशील्य, वाल्सल्य आदि अनन्त कल्याण गुणों के वे भण्डार हैं। उनका जन्म इन्द्रजाल (जादू) की तरह मिथ्या नहीं है, किन्तु सत्य ही है। यद्यपि जगत् की सृष्टि करते समय भगवान् माया का आश्रय लेते हैं किन्तु अपने अवतार में माया का कोई योगदान नहीं है। यद्यपि भगवान् हमारे जैसे शरीर धारण करते अवतार लेते हैं, तथापि वे शरीर प्राकृत (प्रकृति के तत्त्वों से बने हुये) नहीं होते और हमारे (मनुष्यों की) तरह ज्ञानसंकोच वाले नहीं होते। तात्पर्य यह है कि भगवान् का जो ज्ञान है, वह अवतारावस्था में पूर्णतया प्रकाशित रहता है। इस तरह अजत्व (अजन्मा), अव्ययत्व (अविनाशित्व), सर्वेश्वरत्व आदि समस्त पारमेश्वर गुणों को न छोड़ते हुये अवतार लेते हैं। भगवान् का अवतार विग्रह भी त्रिगुणमय प्राकृत नहीं होता, अपितु शुद्धसत्त्वमय होता है। भगवान् का जन्म पुण्यपाप के अनुरूप नहीं होता अपितु भगवान् की अपनी इच्छा के अनुरूप होता है। मनुष्यों का जन्म



एवं जानतश्चैकस्मिन्नेव जन्मनि उपायपूत्र्यानन्तरजन्मप्रतिषेधेन भगवत्प्राप्तिर्गीयते 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गीता.४.९) इत्यादिना। अत एव हि प्राचेतसपाराशर्यशुकशौनकादयः परमर्षयः प्रायस्तत्रैव निष्ठां भूयसीमाद्रियन्ते इति॥८॥

**कर्मयोगस्य सौकर्यं शैघ्र्यं काश्चन तद्विधाः।**

**ब्रह्मज्ञानप्रकारश्च पञ्चमाध्याय उच्यते॥९॥**

तृतीयचतुर्थाभ्यां यथांशं सङ्गतिप्रदर्शनपूर्वकमयं श्लोकः पञ्चमारम्भे व्याख्यातः- 'चतुर्थेऽध्याये कर्मयोगस्य ज्ञानाकारतापूर्वकस्वरूपभेदः, ज्ञानांशस्य च प्राधान्यमुक्तम्। ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि कर्मयोगस्यान्तर्गतात्म-ज्ञानत्वादप्रमादत्वात् सुशकत्वात्रिरपेक्षत्वाच्च ज्यायस्त्वं तृतीय एवोक्तम्। इदानीं कर्मयोगस्यात्मप्राप्तिसाधनत्वे ज्ञाननिष्ठायाः शैघ्र्यम्, कर्मयोगान्तर्गता-कर्तृत्वानुसन्धानप्रकारं च प्रतिपाद्य तन्मूलं ज्ञानं च विशोध्यत' इति।

.....  
कर्मविपाक के अनुसार होता है, किन्तु भगवान् का जन्म कर्मविपाककाल में नहीं, अपितु धर्म की ग्लानि, अधर्म के उत्थानकाल में होता है। भगवान् का जन्म सुखदुःखमिश्रित नहीं होता अपितु सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों का विनाश, धर्म की स्थापना आदि फल देने वाला होता है। इस तरह स्वरूप से, प्रकार से, पदार्थ से, कारणों से, समयानुकूलता से, प्रयोजनों से भगवान् का जन्म दिव्यातिदिव्य है। यह बात भगवान् ने चतुर्थाध्याय के पाँचवें श्लोक से नौवें श्लोक तक बतायी है। भगवान् का जन्म, कर्म, स्वभाव, प्रयोजन आदि सब कुछ दिव्यातिदिव्य ही हैं।

**एवं जानतः।** इस तरह से भगवान् के जन्मरहस्य को जानने वाले व्यक्ति की भगवत्प्राप्ति के उपायों की पूर्ति इसी जन्म में हो जाती है। अत एव उनके पुनर्जन्म का निषेध गीताशास्त्र में किया गया है। यहाँ गीयते का तात्पर्य है- गीता में बताया गया है। वेद में बताये गये विषय के लिये श्रूयते लिखते हैं और स्मृतियों में बताये गये विषयों के लिये स्मर्यते लिखते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में भी बताया है कि 'मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं, इस प्रकार जो तत्त्वतः जानता है, वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता अपितु मुझे ही प्राप्त कर लेता है।

सौकर्यस्यात्रानुद्धरणं पूर्वोक्तानुवादताज्ञापनार्थम्। सौकर्यशब्देनात्र 'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते' (गीता-५.३) इत्यस्य हेतुर्दर्शितः। शैघ्र्यं तु 'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति' (गीता ५.६) इत्युक्तम्। अत्र विधाशब्द इतिकर्तव्यतापरः, तथा खलु 'नैव किञ्चित्करोमि' (गीता.५.८) इत्यादेरधिष्ठिका- 'यतः सौकर्याच्छैघ्र्याच्च कर्मयोग एव श्रेयान् अतस्तदपेक्षितं शृणु' (गी.भा.५.८.अवतारिका) इति। अकर्तृत्वानुसन्धान-प्रकारशब्दोऽप्येतत्परः।

.....  
अत एव। अत एव प्राचेतस वाल्मीकि जी, पाराशर्य वेदव्यास जी, शुकदेव स्वामी जी, शौनक जी आदि महर्षिगण प्रायः इस ज्ञाननिष्ठा का अत्यधिक आदर किया करते हैं॥८॥

इस तरह अष्टम पद्य से गीता के चतुर्थ अध्याय का सारसंग्रह किया गया। अब नौवें श्लोक से पञ्चमाध्याय का सारांश बताया जा रहा है-

श्लोकार्थः- पञ्चमाध्याये=पंचम अध्याय में, कर्मयोगस्य=कर्मयोग की, सौकर्यम्= सरलता (सुकरता), शैघ्र्यम्=सिद्धि की शीघ्रता, काश्चन तद्विधाः=इसी तरह के अन्य भेद और ब्रह्मज्ञानप्रकारः च=ब्रह्मज्ञान का प्रकार, उच्यते=बताया गया है।

**तृतीयचतुर्थाध्यायम्।** तृतीय और चतुर्थ अध्यायों की संगति दिखाकर इस श्लोक की व्याख्या भगवान् श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी ने गीता के पंचमाध्याय के आरम्भ इस तरह से की है-

**चतुर्थेऽध्याये।** चतुर्थाध्याय में कर्मयोग की ज्ञानाकारता बतलाकर उसके स्वरूपभेद और ज्ञानांश की प्रधानता का वर्णन किया गया। अर्थात् कर्मयोग भी आत्मज्ञानपूर्वक सिद्ध होता है और कर्मयोग में विद्यमान जो ज्ञान है, उसकी प्रधानता है।

**ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि।** आत्मज्ञान कर्मयोग के अन्तर्गत ही है, अनादिजन्मों में कर्म करने का अभ्यास होने के कारण कर्मयोग में प्रमाद नहीं है, वह सुखसाध्य है और दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं रखता। इन सब कारणों से ज्ञानयोग के अधिकारियों के लिये भी कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, यह बात तो तीसरे अध्याय में ही कह दी गयी थी।

**इदानीम्।** अब इस पाँचवें अध्याय में आत्मा की प्राप्ति कराने में ज्ञाननिष्ठा की अपेक्षा कर्मयोग की शीघ्रताजनित श्रेष्ठता का और कर्मयोग के

.....  
अन्तर्गत आत्मा के अकर्तापन को समझने की रीति का प्रतिपादन करते हुए उसके मूलकारण ज्ञान का भी स्पष्टीकरण करते हैं। इतना अंश रक्षाकार ने गीताभाष्य से प्रकृत श्लोक की व्याख्या का उद्धरण किया है।

**सौकर्यस्यात्रानुद्धरणम्।** यद्यपि मूलश्लोक में **सौकर्य**-शब्द है किन्तु पञ्चमाध्याय की अवतरणिका में भाष्यकार ने प्रकृतश्लोक की जो व्याख्या की है, उसमें **सौकर्य**-शब्द की व्याख्या नहीं है। उसका कारण रक्षाकार यह मानते हैं कि कर्म का सौकर्य=सरलता कथन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है और उसका अनुवाद मात्र प्रकृतश्लोक में किया गया है। भाष्यकार के द्वारा **सौकर्य**-शब्द का विवेचन न करना इसी बात का ज्ञापन करता है। **सौकर्य**-शब्द से **सुखं बन्धात्प्रमुच्यते** (५.३) इस गीताश्लोक में उक्त सुखपूर्वक बन्धन से मुक्त होने का हेतु गया है। उक्त श्लोक में कहा गया है- जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा करता है, उसे नित्य संन्यासी ही समझना चाहिये, क्योंकि द्वन्द्व से रहित पुरुष सुखपूर्वक बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस तरह मुक्त होने में सरलतापूर्वक किया जा सकने वाला कर्मयोग ही हेतु है।

**शैघ्र्यं तु।** शैघ्र्य=शीघ्रता किस प्रकार से है? इसके विषय में बता रहे हैं कि गीता के योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति (५.६) इस श्लोक में उक्त कर्मयोग के बिना संन्यास का पाना कठिन है और कर्मयोगयुक्त मुनि ब्रह्म को शीघ्र प्राप्त हो जाता है। यही शीघ्रता है।

**अत्र विधाशब्दः।** गीतार्थसंग्रह के मूलश्लोक में **विधा** शब्द का प्रयोग हुआ है और उसका क्या तात्पर्य है? इस पर कहते हैं- कर्मयोग में किये जाने सब प्रकार के कर्मरूप इतिकर्तव्यता ही यहाँ पर **विधा** शब्द से कहा गया है। जैसा कि 'सब कुछ करते हुये भी अकर्तापन का अनुभव करते हुये मैं कुछ भी नहीं करता' इस तरह का भाव रखना। भाष्यकार स्वामी जी ने ही पाँचवें अध्याय के आठवें श्लोक की अवतरणिका में कहा है- 'क्योंकि सुखसाध्यता और शीघ्रता की दृष्टि से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। अतः उसके लिये किस बात की अपेक्षा है? सो सुनो' इत्यादि। इसके बाद आठवें और नौवें श्लोक हैं। उनका भाव है- तत्त्व को जानने वाला पुरुष देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, नेत्र खोलता और मीचता हुआ भी यह निश्चय करके कि 'इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषय में बरत रही हैं, ऐसा मानते हुये यह समझे कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, इत्यादि।

ब्रह्मशब्दोऽत्र ब्रह्मसमानाकारशुद्धात्मविषयः। ज्ञानशब्दश्चात्र समदर्शनरूपज्ञानविपाकविश्रान्तः। प्रकारशब्दस्तु तद्धेतुभूतप्रकारार्थः। अत एव हि 'येन प्रकारेणावस्थितस्य कर्मयोगिनः समदर्शनरूपो ज्ञानविपाको भवति, तं प्रकारमुपदिशति' (गी.भा. ५.२० अवतरणिका) इत्युक्त्वा 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य' (गीता-५.२०) इत्यादिकमवतारितम्।

षष्ठारम्भस्त्वेवं सङ्गमितः- 'उक्तः कर्मयोगः सपरिकरः, इदानीं ज्ञानयोगसाध्यात्मावलोकनरूपयोगाभ्यासविधिरुच्यते, तत्र कर्मयोगस्य निरपेक्षस्य निरपेक्षयोगसाधनत्वं द्रढयितुं ज्ञानाकारः कर्मयोगो योगशिरस्कोऽनूद्यते' इति। एतेन 'योगी युञ्जीत' (गीता-६.१०) इत्यतः पूर्वस्य ग्रन्थस्यानुवादरूपत्वात् सङ्ग्रहे नोपन्यास इति व्यञ्जितम्॥१॥

अकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारशब्दोऽप्येतत्परः। प्रकृत श्लोक का जो भाष्यार्थ दिया गया है, उसमें अकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारम् ऐसा पद आया है और तादृश अकर्तृत्व का अनुसन्धान प्रकार भी उक्त श्लोक नैव किञ्चित्करोमि के अनुसार ही समझना चाहिये अर्थात् सब कार्य करते हुये अपने में कर्तृभाव (कर्तापन) न लाना ही अकर्तृत्वानुसन्धान है। पूर्व अध्याय में बताया जा चुका है कि प्रकृति के गुणों में या परमात्मा में कर्तृत्व का निक्षेप कर देना चाहिये। जब योगी अपने करे कर्ता ही न समझता, तब कर्मफल भी उसे भोगना नहीं पड़ेगा। कर्मफल भोगने की बाध्यता नहीं होगी तो कर्मफलभोगार्थ होने वाले जन्म भी नहीं होंगे। पुनर्जन्मों का न होना ही संसार से मुक्ति है। इस तरह कर्मयोग की सुकरता और शीघ्रता सिद्ध हो जाती है।

ब्रह्मशब्दः। प्रकृत श्लोक का ब्रह्म-शब्द ब्रह्म के समानाकार विशुद्ध आत्मा का विषय है अर्थात् ब्रह्मशब्द से यहाँ कर्मबन्धन से मुक्त शुद्ध आत्मा को समझना चाहिये। उपनिषदों में कहा गया है कि कर्मबन्धन से मुक्त आत्मा को शुद्ध आत्मा, अक्षर आदि कहते हैं और वह ब्रह्म के समान हो जाता है। अत एव तादृश जीव को ब्रह्म भी कहा जाता है।

ज्ञानशब्दश्चात्र। प्रकृत श्लोक में आगत ज्ञान-शब्द से यहाँ पर समदर्शन रूप ज्ञान की परिपक्वावस्था को समझना चाहिये। प्रकार-शब्द से उस ज्ञान का हेतुभूत प्रकार समझना चाहिये। इस लिये ही गीताभाष्य में भगवान् श्रीरामानुजाचार्य

## योगाभ्यासविधियोगी चतुर्धा योगसाधनम्। योगसिद्धिः स्वयोगस्य पारम्यं षष्ठ उच्यते॥१०॥

ननु अत्र पञ्चार्थाः सङ्गृहीताः, भाष्ये तु कथमेकः? इत्थम्, 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' (गीता-५.२७) इत्यादिना पञ्चमे प्रस्तुतो योगाभ्यासविधेरेवात्र प्रपञ्च्यत इति तत्प्रधानोऽयमध्यायः, तदनुबन्धाः प्रसङ्गादन्ये प्रतिपाद्यन्त इति। एतेनाध्यायान्तरेष्वप्यनेकानुबन्ध एकैकार्थः प्रधानतम इति सूचितम्।

.....  
स्वामी जी ने- जिस प्रकार से कर्मयोगी का समदर्शन रूप ज्ञानविपाक होता है, उसका उपदेश कर रहे हैं, इत्यादि कहकर बताया कि 'प्रिय को प्राप्त करके बहुत ज्यादा हर्षित भी नहीं होना चाहिये' आदि का अवतरण किया है। यह भी तो समदर्शन ही है।

**षष्ठारम्भस्तु।** गीताभाष्यकार ने छठे अध्याय की पूर्वाध्याय से संगति इस तरह बतायी है- अभी तक अङ्गों सहित कर्मयोग कहा गया। अब छठे अध्याय में ज्ञानयोग और कर्मयोग से सिद्ध होने वाले आत्मावलोकन रूप योग के अभ्यास की विधि बतलायी जा रही है। वहाँ पहले कर्मयोग आत्मसाक्षात्काररूप योग का निरपेक्ष (दूसरे की अपेक्षा न रखने वाला) साधन है। इस भाव को दृढ़ करने के लिये योगशीर्षक ज्ञानस्वरूप कर्मयोग का अनुवाद=प्रकारान्तर से कथन है। इस कथन से सिद्ध होता है कि आचार्य ने योगशिरस्क कर्मयोग के विषय को योगी युञ्जीत श्लोक से पूर्वग्रन्थ का अनुवाद होने के कारण गीतार्थसंग्रह के प्रकृत श्लोक में नहीं उठाया है। तात्पर्य है कि उक्त योगशिरस्क कर्मयोग का विवेचन पहले हो चुका है और अभी केवल उसका स्पष्टीकरण है। अतः संग्रह में केवल कर्मयोग का सौकर्य, शीघ्रफलप्राप्ति और ब्रह्मज्ञान के प्रकार मात्र बताये गये हैं॥१॥

**श्लोकार्थः-** योगाभ्यासविधिः=योगाभ्यास की विधि, चतुर्धा योगी=चार प्रकार के योगी, योगसाधनम्=योग का साधन, योगसिद्धिः=योग की सिद्धि और स्वयोगस्य=स्वयोग (श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेष्टा भगवान् श्री वासुदेव के भजन रूप योग) की, पारम्यम्=परमता ये पाँच विषय षष्ठे उच्यते=छठे अध्याय में बताये गये हैं।

ननु अत्र। समाधान प्रस्तुत करने के लिये पहले प्रश्न करते हैं कि यहाँ पर गीतार्थसंग्रह में छठे अध्याय के विषय के रूप में योगाभ्यासविधि, योगी, चार

तद्यथा- श्रवणाधिकारी, तन्मोहशमनं, कर्मयोगकर्तव्यत्वम्, तदवान्तरभेदः, तदन्तर्गतज्ञानविपाकः, योगाभ्यासविधिः, प्रतिबुद्धप्राधान्यम्, त्रिविधाधिकारवेद्योपादेयविभागः, सप्रकारो भक्तियोगः, गुणविभूत्यानन्त्यम्, वैश्वरूप्यदर्शनोपायः, भक्त्यारोहक्रमः, विशुद्धक्षेत्रज्ञविज्ञानम्, त्रैगुण्य-विशोधनम्, पुरुषोत्तमवैलक्षण्यम्, शास्त्रवश्यत्वम्, शास्त्रीयविवेचनम्, सारोद्धारः इति।

.....  
प्रकार के योगसाधन, योगसिद्धि और स्वयोग का परत्व ये पाँच विषय बताये गये हैं किन्तु भगवान् भाष्यकार श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी ने गीताभाष्य में क्यों एक ही योगाभ्यासविधि को विषय बनाकर उपस्थापित किया है?

**इत्थम्।** इस प्रश्न का उत्तर इस तरह से है कि गीता के पाँचवें अध्याय में 'बाह्य स्पर्शादि विषयों को बाहर करके' इत्यादि कथन से जो योगाभ्यासविधि बतायी गयी थी, उसी का विस्तार छठे अध्याय में पाँच अनुबन्धों के रूप दिखाया गया है। अतः यह अध्याय योगाभ्यासविधि-प्रधान अध्याय ही है। उसके जो अन्य अनुबन्ध बताये गये हैं, वे तो प्रसंगवश प्रतिपादित किये गये हैं। अतः श्रीभाष्य से कोई विरोध नहीं है। इससे यह सूचित किया गया है कि अन्य अध्यायों में अनेक अनुबन्धों से युक्त एक-एक अर्थ प्रधान रूप से वर्णित हैं।

**तद्यथा।** प्रत्येक अध्याय का विषय निम्नलिखित रूप है। जैसे कि- प्रथमाध्याय में श्रवण के अधिकारी अर्जुन की दशा ही मुख्य विषय है। द्वितीयाध्याय में अर्जुन के मोह का शमन किया गया है।

तृतीयाध्याय में कर्मयोग की अनिवार्य कर्तव्यता बतायी गयी है।

चतुर्थाध्याय में कर्मयोग के अवान्तरभेदों का वर्णन है।

पञ्चमाध्याय में कर्मयोग के अन्तर्गत ज्ञानविपाक दशा का वर्णन है।

षष्ठाध्याय में योगाभ्यास की विधि बतायी गयी है।

सप्तमाध्याय में प्रतिबुद्ध योगी का प्राधान्य बताया गया है।

अष्टमाध्याय में तीन प्रकार के अधिकारों से जानने योग्य उपादेय का विभाग किया गया है।

नवमाध्याय में अंगों सहित भक्तियोग का वर्णन है।

दशमाध्याय में भगवान् के विभूतियों की अनन्तता बतायी गयी है।

अतोऽत्र योगाभ्यासविध्यनुबन्धत्वेन योगे चातुर्विध्यादिप्रदर्शनम्। योगी चतुर्धा- 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' (गीता- ६.२९) इत्यादिश्लोक-चतुष्टयोदितसमदर्शनचातुर्विध्यात्। तत्र ह्येवं भाष्यम्- 'अथ योगविपाकदशा चतुष्प्रकारोच्यते' इति। एवं तत्र समदर्शनविपाकक्रमोऽभिप्रेतः- आत्मनां ज्ञानत्वानन्दत्वादिभिरन्योन्यसाम्यदर्शनम्, शुद्धावस्थायामपहतपाप्मत्वा-दिभिरेश्वरेण साम्यदर्शनं, परित्यक्तप्राकृतभेदानामसङ्कुचितज्ञानैकाकारतया ईश्वरेण तदपृथक्सिद्धविशेषणत्वादिभिरन्योन्यं च साम्यदर्शनम्, औपाधिकैः पुत्रादिभिरसम्बन्धसाम्यदर्शनं चेति।

.....  
 एकादशाध्याय में विश्वरूप-दर्शन का उपाय बताया गया है।  
 द्वादशाध्याय में भक्ति का आरोहणक्रम बताया गया है।  
 त्रयोदशाध्याय में विशुद्ध क्षेत्रज्ञ का विज्ञान बताया गया है।  
 चतुर्दशाध्याय में सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों का विशोधन बताया गया है।

पञ्चदशाध्याय में भगवान् पुरुषोत्तम का वैलक्षण्य बताया गया है।  
 षोडशाध्याय में जीव की शास्त्रवश्यता बतायी गयी है।  
 सप्तदशाध्याय में विविध शास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया है।  
 अष्टादशाध्याय में श्रीमद्भगवद्गीता का सार (निचोड़) बताया गया है।

**अतोऽत्र।** अतः छठे अध्याय में योगाभ्यासविधि के अनुबन्ध के रूप में योग की चार प्रकार की स्थिति का प्रदर्शन किया गया है। योगी को चार प्रकार का इस लिये बताया गया है कि आगे इसी अध्याय में सर्वभूतमात्मानम् आदि चार श्लोकों से चार प्रकार की योग की विपाकदशा बतायी गयी है। तदनुकूल अनुष्ठान करने वाले योगी भी चार ही प्रकार के हो जाते हैं। भाष्यकार ने भी अब चार प्रकार की योगविपाकदशा बतलायी जा रही है, ऐसा कहा है। उक्त श्लोकों से जो समदर्शन (समदृष्टिसम्पन्नता) का वर्णन किया गया है, उसमें समदर्शन के क्रम का बताना अभिप्रेत है। जैसे कि-

१. सभी आत्माओं में ज्ञानत्व और आनन्दत्व के कारण एक दूसरे में समानदृष्टि रखना पहला क्रम है।

२. प्रकृति से वियुक्त शुद्धावस्था को प्राप्त आत्माओं के अपहतपाप्मत्व (सांसारिक समस्त क्लेशों से मुक्त) आदि हो जाने पर उन आत्माओं में ईश्वर के

योगसाधनम्=अभ्यासवैराग्यादिकम्।

योगसिद्धिः=योगभ्रष्टस्यापि प्रत्यवायविरहः, पुण्यलोकाद्यवाप्तिः, विच्छिन्नप्रतिसन्धानाद्यनुरूपविशिष्टकुलोत्पत्तिः, अभिक्रमनाशाभावेन क्रमाच्छेषपूरणेनापवर्गाविनाभावः- इत्येवंरूपा।

.....  
समान देखना यह दूसरा समदर्शन है। उपनिषदों में कहा गया है कि संसारबन्धन से मुक्त होकर जब जीवात्मा परमात्मा की सन्निधि में पहुँचता है, तब उसके स्वाभाविक गुण आविर्भूत होते हैं, जो संसारदशा में कर्मवासना के कारण तिरोहित हो गये थे। ये आठ गुण हैं- अपहृतपाप्मा (समस्त दोषों से रहित), विजर (जरा-रहित), विमृत्यु (मृत्यु-रहित), विशोक (शोक-रहित), अविजिघत्स (क्षुधा-रहित), अपिपास (पिपासा-रहित), सत्यकाम (समस्त कामों का स्वतः प्राप्त होना) और सत्यसंकल्प (समस्त संकल्प स्वतः सिद्ध होना)। ये ही गुण परमात्मा में भी रहते हैं, अतः जीवात्मा का इन गुणों के कारण साम्य हो जाता है। अतः साम्यदर्शन कहा गया है।

३. समस्त प्रकृति-सम्बन्ध वाले भेदों का परित्याग हो जाने पर जीवात्मा भी असंकुचित ज्ञानवान् होता है। अतः तादृश ज्ञानवत्ता के आकार से ईश्वर के अपृथक् रहने वाले विशेषणों से युक्त सभी आत्मायें हैं, इस तरह देखना तीसरा समदर्शन है।

४. जो व्यक्ति उपाधि से प्राप्त प्राकृतिक स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि सम्बन्धों से ऊपर उठ चुका है, ऐसी आत्माओं में प्राकृतिक असम्बद्धता के कारण ऐक्यभाव रखकर समदर्शन होना यह चतुर्थ समदर्शन है।

इस तरह श्लोकोक्त योगाभ्यासविधिः और योगी चतुर्धा इतने अंश का विवेचन किया गया। अब आगे एक-एक करके योगसाधनम्, योगसिद्धिः और स्वयोगस्य पारम्यम् का विवेचन करते हैं-

**योगसाधनम्।** श्लोकोक्त योगसाधनम् शब्द का अर्थ बताते हुये रक्षाकर कह रहे हैं कि अभ्यास और वैराग्य आदि को ही योगसाधन कहा जाता है, क्योंकि निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से ही योग की सिद्धि होती है। इस तरह योग साध्य है और अभ्यास तथा वैराग्य साधन हैं।

अब योगसिद्धि शब्द का विवेचन कर रहे हैं-

१. योगसाधना करते-करते योग की अपूर्ण अवस्था में ही जो शरीर त्याग



स्वयोगस्य पारम्यं वक्तुर्भगवतो वासुदेवस्य भजनरूपो योगोऽत्र स्वयोगः, तस्य पारम्यं स्वापेक्षयोत्कृष्टराहित्यम्। एतच्च मध्यमषट्क-प्रतिपाद्यमपि तत्प्रस्तावनारूपेण 'योगिनामपि सर्वेषाम्' (गीता-६.४७) इति प्रथमषट्कान्तिमश्लोकन दर्शितम्। तथाहि तत्र भाष्यम्- 'तदेवं परविद्याङ्गभूतप्रजापतिवाक्योदितं प्रत्यगात्मनो दर्शनमुक्तम्, अथ परविद्यां प्रस्तौति' इति॥१०॥

.....  
देते हैं, उनको गीता में योगभ्रष्ट कहा गया है। ऐसे योगभ्रष्ट आत्माओं का भी अवश्यकरणीय कर्तव्यों के अकरण से होने वाले प्रत्यवाय (दोष) का अभाव होना, अर्थात् तादृश योगभ्रष्टों का अवश्यकरणीय कर्तव्यों के न करने से होना वाला प्रत्यवाय नहीं लगता- नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते (६.४०)।

२. तादृश योगभ्रष्ट महात्माओं की तत्काल मुक्ति तो नहीं होती किन्तु पुण्यलोकों की प्राप्ति हो जाती है और वहाँ योगमाहात्म्य से यथेष्ट पुण्यभोग भोगते हैं- प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः (६.४१)।

३. उसके बाद पूर्व जन्म में किये हुये योगसाधना के विच्छिन्नता की अनुभूति रहते हुये तदनुरूप विशिष्ट पवित्र कुल में जन्म प्राप्त होता है अथवा बुद्धिमान् ज्ञानी योगियों के कुल में ही जन्म होता है- शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते, अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् (६.४१-४२)। योगसाधन के उपयुक्त विशुद्ध श्रीमानों के कुल में जन्म होना और योगियों के कुल में जन्म होना- ऐसा यह दोनों ही प्रकार का जन्म संसार में प्राकृत मनुष्यों के लिये बड़ा दुर्लभ है, क्योंकि यह केवल योग के माहात्म्य से ही प्राप्त हुआ करता है।

४. पूर्वकृत योग के क्रम का नाश हुये बिना ही क्रमशः अवशिष्ट योगसाधना की परिपूर्ति होकर अन्ततः परमात्मा-प्राप्ति रूप अपवर्ग से युक्त होना अर्थात् वहाँ वह उस पूर्व देह में अभ्यास किये हुए बुद्धिसंयोग को सहज ही पा जाता है, इस लिये वह सोकर जगे हुए की भाँति पुनः उससे योग की पूर्णसिद्धि के लिये प्रयत्न करता है। अनेक जन्मों में उपार्जित पुण्य के संचय से जिसके पाप धुल चुके हैं, ऐसा सँसिद्ध होकर जन्मा हुआ और प्रयत्न पूर्वक साधन करने वाला योगी पूर्वजन्म में योग से विचलित होकर भी इस जन्म में पुनः परमगति को प्राप्त हो जाता है।

इस तरह से चलने की प्रक्रिया को ही छठे अध्याय में योगसिद्धि कहा गया है। यद्यपि योगसिद्धि का अर्थ योग करते-करते भ्रष्ट होना क्रम अपेक्षित नहीं

**स्वयाथात्म्यं प्रकृत्यास्य तिरोधिः शरणागतिः।**

**भक्तभेदः प्रबुद्धस्य श्रेष्ठ्यं सप्तम उच्यते॥११॥**

तत्र भाष्यम्- 'सप्तमे तावदुपास्यभूतपरमपुरुषस्वरूपयाथात्म्यम्, प्रकृत्या तत्तिरोधानम्, तन्निवृत्तये भगवत्प्रपत्तिः, उपासकविधाभेदः, ज्ञानिनः श्रेष्ठ्यं चोच्यते' इति।

.....  
है अपितु कथंचित् योगभ्रष्ट भी हो जाय तो उसका कल्याण होता है, यह योगमाहात्म्य बताना अभिप्रेत है।

**स्वयोगस्य पारम्यम्।** मूलश्लोकोक्त **स्वयोगस्य पारम्यम्** की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेष्टा भगवान् श्री वासुदेव के भजन रूप योग को यहाँ पर **स्वयोग** शब्द से कहा गया है। उक्त योग के पारम्य का तात्पर्य है भगवान् के अतिरिक्त अन्यत्र तादृश उत्कृष्टता अभाव अर्थात् सर्वोत्कृष्ट परमात्मा ही है, ऐसा भाव साधक के मन में होना। विविध श्रुतियों और स्मृतियों से सिद्ध है कि भगवान् श्रीमन्नारायण ही परात्पर हैं और वे ही सृष्टि, स्थिति, संहार करते हैं और मोक्ष प्रदान करने वाले भी वे ही हैं। भगवान् की अपेक्षा अन्य कोई उत्कृष्ट नहीं हैं, यह भाव साधक में होना चाहिये, यह बात षष्ठाध्याय से प्रतिपाद्य है।

यद्यपि ये सब विषय गीता के मध्यम-षट्क (सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक) से प्रतिपाद्य हैं तथापि उक्त मध्यम-षट्क की प्रस्तावना के रूप में गीता के प्रथमषट्क अर्थात् छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक **योगिनामपि सर्वेषाम्०** से दिखाया गया है। वहाँ का उक्त श्लोकावतरण श्रीरामानुजभाष्य में इस तरह से है- 'इस प्रकार यहाँ उपनिषदों में प्रजापति के वाक्य द्वारा प्रतिपादित परा विद्या का अंगभूत प्रत्यगात्मदर्शन (जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान) बतलाया गया है। अब छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक से परा विद्या की प्रस्तावना प्रस्तुत करते हैं' इत्यादि। परा विद्या (परविद्या) शब्द का अर्थ है- ब्रह्मविद्या, जो बृहदारण्यकोपनिषद् आदि में प्रजापतिवाक्य आदि के रूप में प्रसिद्ध है। तादृश ब्रह्मविद्या का अंग है प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का आत्मदर्शन॥१०॥

**श्लोकार्थः:-** सप्तमे=सातवें अध्याय में, **स्वयाथात्म्यम्**=उपास्यभूत परमपुरुष के स्वरूप का यथार्थ तत्त्व, **अस्य**=इस जीव का, **प्रकृत्या**=प्रकृति के आवरण से, **तिरोधिः**=तिरोधान होना (जीवात्मा का प्रकृति से ढका जाना), **शरणागतिः**=भगवान्

तत्र प्रकृतिशब्देन 'मम माया दुरत्यया' (गीता.७.१४) इति मायाशब्दो व्याख्यातः। 'गुणमयी' इति विशेषणात् सैव हि विवक्षितेति गम्यते। श्रुतावपि 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्, तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः' (श्वे.उ.४.९) इति प्रस्तुतयोर्मायातद्वतोः 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे.उ.४.१०) इति स्वयमेव विवरणाच्च। अतो विचित्रसृष्ट्युपकरणवस्तुत्वात् प्रकृताविह मायाशब्दप्रयोग इति भावः।

.....  
की शरणागति, भक्तभेदः=उपासक भक्तों के प्रकारात्मक भेद और, प्रबुद्धस्य श्रेष्ठ्यम्=प्रबुद्ध ज्ञानी की श्रेष्ठता का, उच्यते=वर्णन किया जाता है।

तत्र भाष्यम्। इस श्लोक की व्याख्या के रूप में भगवान् श्रीरामानुज स्वामीजी ने सातवें अध्याय की अवतरणिका में कहा है कि सातवें अध्याय में उपास्यभूत परमपुरुष के स्वरूप का यथार्थ तत्त्व, इस जीव का प्रकृतिरूप आवरण से उसका ढका जाना, उक्त आवरण की निवृत्ति के लिये भगवान् की शरणागति, उपासक भक्तों के प्रकारात्मक भेद और प्रबुद्ध ज्ञानी की श्रेष्ठता का वर्णन किया जाता है।

इस अध्याय में प्रायः अर्थपञ्चक का ही विवेचन है। अस्य शब्द से जीवात्मा के याथात्म्य रूप स्वस्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है। स्वयाथात्म्य शब्द से परस्वरूप का वर्णन सूचित होता है। तिरोधिः कहने से विरोधी स्वरूप का संकेत है, शरणागतिः कहने से उपायस्वरूप का ही कथन है और इन सबके विवेचन से प्राप्तिस्वरूप का भी वर्णन हो ही जाता है।

तत्र प्रकृतिशब्देन। उक्त श्लोक में जो प्रकृति शब्द आया है, उसका अर्थ है माया। उक्त माया की व्याख्या गीता में ही मम माया दुरत्यया श्लोक से की गयी है, क्योंकि उक्त श्लोक में उक्त माया के लिये ही गुणमयी शब्द का प्रयोग किया गया है- दैवी ह्येषा गुणमयी। सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण हैं और वह माया उक्त तीनों गुणों की आश्रयभूता है। उक्त गुणमयी विशेषण शब्द से प्रकृति-नामक भगवान् की माया ही विवक्षित है, ऐसा समझा जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि 'महाभूतादि तत्त्वों के समुदाय से मायी=परमात्मा इस विश्व की रचना करता है तथा दूसरा जीवात्मा उस प्रपञ्च में माया के द्वारा भलीभाँति बँधा हुआ है'। परमात्मा की शक्ति माया है और परमात्मा मायी, मायावान् या मायावी कहलाते हैं। इस तरह प्रस्तुत माया और मायावान् के विषय में उक्त उपनिषद् के अगले भाग में बताया गया है कि 'माया तो प्रकृति

अष्टमारम्भसङ्गतौ चैतच्छ्लोकार्थः स्पष्टमभिहितः। 'सप्तमे परस्य ब्रह्मणो वासुदेवस्योपास्यत्वम्, निखिलचेतनाचेतनवस्तुशेषित्वम्, कारणत्वम्, आधारत्वम्, सर्वशरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वम्, सर्वनियन्तृत्वम्, सर्वैश्च कल्याणगुणैस्तस्यैव परतरत्वम्, सत्त्वरजस्तमोमयैर्देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन चावस्थितैर्भावैरनादिकालप्रवृत्तदुष्कृतप्रवाहहेतुकैस्तस्य तिरोधान-मत्युत्कृष्टसुकृतहेतुकभगवत्प्रपत्त्या च तन्निवर्तनम्, सुकृततारतम्येन प्रतिपत्ति-वैशेष्यादैश्वर्याक्षरयाथात्म्यभगवत्प्राप्त्यपेक्षया च उपासकभेदम्, भगवन्तं प्रेप्सोर्नित्ययुक्तया एकभक्तितया चात्यर्थपरमपुरुषप्रियत्वेन च श्रैष्ठ्यम्, दुर्लभत्वञ्च प्रतिपाद्य एषां त्रयाणां ज्ञातव्योपादेयभेदाश्च प्रास्तौषीत्' इति॥१०॥

को जानना चाहिये ओर मायापति महेश्वर परमात्मा भगवान् श्रीमन्नारायण को समझना चाहिये'। वेदवाणी भगवान् की है, अतः भगवान् ने ही ऐसा कहा है, यह समझना चाहिये। अतः भगवान् की इच्छा अनुसार विशिष्ट प्रकार की सृष्टि के उपकरण बनने के कारण भी यहाँ पर प्रकृति के लिये माया-शब्द का प्रयोग किया गया है, ऐसा भाव है। इस कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि माया शब्द से प्रकृति को ही लिया जाता है। यहाँ पर यह भी समझना चाहिये कि अद्वैतियों की तरह माया-शब्द मिथ्यावाची नहीं है अपितु विचित्र कार्य करने में समर्थ ईश्वरीय शक्ति को ही माया कहा जाता है। तादृश प्रकृति (माया) से जीवात्मा के स्वरूप का तिरोधान (ढकाव) हो जाता है, अत एव वह मोक्षमार्ग से दूर चला जाता है। तादृश माया से मुक्त होने का एक ही उपाय यह है उसी मायापति, मायी, मायावान्, मायावी परमात्मा की शरणागति की जाय।

**अष्टमारम्भसङ्गतौ।** गीताभाष्य में अष्टमाध्याय की संगति-विषयक अवतरणिका में गीतार्थसंग्रह के इस श्लोक का अर्थ स्पष्टतया प्रदिपादित किया गया है। जैसे कि- सातवें अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया कि परब्रह्म पुरुषोत्तम श्री वासुदेव भगवान् ही उपास्य हैं- **वासुदेवस्योपास्यत्वम्।**

**निखिलचेतनाचेतनवस्तुशेषित्वम्।** अखिलकोटिब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्मा भगवान् वासुदेव ही सम्पूर्ण जड़ और चेतन वस्तुओं के शेषी=स्वामी हैं। समस्त चेतन और अचेतन परमात्मा के शेष हैं और परमात्मा इन सबके शेषी हैं।

.....  
**कारणत्वम्।** यह चेतन और अचेतन रूप सारा जगत् परमात्मा का कार्य है और परमात्मा इन सबके कारण हैं। कार्य की उत्पत्ति कारण से ही होती है। कारण दो प्रकार का होता है- उपादानकारण और निमित्तकारण। यद्यपि लोक में दोनों कारण भिन्न-भिन्न ही होते हैं किन्तु परमात्मा दोनों प्रकार से कारण है।

**आधारत्वम्।** वे ही सबके आधार हैं। परमात्मा के आधार पर ही चराचर टिका हुआ है।

**सर्वशरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वम्।** चित् (चेतनतत्त्व) और अचित् (अचेतनतत्त्व, जड़) ये सब परमात्मा के ही शरीरभूत हैं। शरीरवाची शब्द शरीर के वाचक होते हुये अन्ततः शरीर के भी वाचक होते हैं। अत एव सभी शरीरवाची शब्द परमात्मा के ही प्रकार भेद होने के कारण वे ही सर्व शब्द से वाच्य हैं अर्थात् समस्त शब्दों का अर्थ परमात्मा ही है।

**सर्वनियन्तृत्वम्।** चराचर जगत् को नियन्त्रण करके निरुपाधिक सामर्थ्य केवल परमात्मा में ही है, अतः वे सर्वनियन्ता हैं अर्थात् सर्वनियन्तृत्व परमात्मा में ही विद्यमान है।

**सर्वैश्च कल्याणगुणैस्तस्यैव परतरत्वम्।** परमात्मा समस्त कल्याणगुणगणों के सागर हैं, इस कारण उनका ही परात्परत्व सिद्ध होता है। न तो कोई परमात्मा से परे है और न तो कोई परमात्मा के समान ही है।

**सत्त्वरजोस्तमोमयैर्देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन चावस्थितैर्भावैरनादिकाल-प्रवृत्तदुष्कृतप्रवाहहेतुकैस्तस्य तिरोधानम्।** सत्त्व, रजस्, तमस् से युक्त देहत्व, इन्द्रियत्व, भोग्यत्व के रूप में अनादि काल से प्रवृत्त दुष्कृतप्रवाह रूप से अवस्थित भावों के कारण जीवात्मा का जो तिरोधान (आवरण) हुआ करता है, अथवा उपर्युक्त गुणगणयुक्त परमात्मा और तादृश गुणयुक्त जीवात्मा के बीच पर्दा आ जाता है। यही परमात्मा के गुणों का जीव के प्रति तिरोधान है और जीवात्मा के भी अपहृतप्राप्तत्वादि स्वाभाविक गुणों का प्रकृति के गुणों एवं अनादिकर्मवासना आदि के कारण तिरोधान हो जाता है।

**उत्कृष्टसुकृतहेतुकभगवत्प्रपत्त्या च तन्निवर्तनम्।** तादृश स्वरूपतिरोधान का निवर्तन उत्कृष्ट सुकृत (पुण्य) हेतुक भगवत्प्रपत्ति=शरणागति के द्वारा ही सम्भव है। अर्थात् दुष्कृतप्रवाहहेतुक वासनाओं के द्वारा जो आत्मस्वरूप का तिरोधान हुआ करता है, उसको भगवान् की शरणागति ही हटा सकती है। इस तरह यहाँ तक श्लोकोक्त **शरणागति**-शब्द का विवेचन किया गया। अब आगे भक्तभेद का विवेचन करते हैं-

## ऐश्वर्याक्षरयाथात्म्यभगवच्छरणार्थिनाम्। वेद्योपादेयभावानामष्टमे भेद उच्यते॥१२॥

ऐश्वर्यमन्त्रेन्द्रप्रजापतिपशुपतिभोगेभ्योऽतिशयितभोगः। अक्षरयाथात्म्यं विविक्तात्मस्वरूपम्। वेद्यास्तु 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' इत्यादिनोक्ताः शुद्धात्मस्वरूपप्रभृतयः। उपादेयास्तु- तत्तदिष्टफलानुरूपपरमपुरुष-चिन्तनान्तिमप्रत्ययगतिचिन्तनादयः। त एव भावाः पदार्थाः, तेषां भेदः तत्तदधिकारानुरूपो विशेषः॥१२॥

.....  
**सुकृततारतम्येन प्रपत्तिवैशेष्याद् ऐश्वर्याक्षरयाथात्म्यभगवत्प्राप्त्यपेक्षया च उपासकभेदम्।** पुण्यों की न्यून-अधिकता के तारतम्य से शरणागति में सामान्य-विशेष आदि भेद होने के कारण ऐश्वर्य की प्राप्ति, आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति और भगवत्प्राप्ति इस प्रकार प्राप्तिविषयक अभिलाषा में भेद होने के कारण उपासकों में भी तीन भेद हुआ करते हैं। कुछ भक्त भगवान् से केवल ऐश्वर्य मात्र प्राप्त करना चाहते हैं, कुछ भक्त केवल आत्मानुभव मात्र चाहते हैं और अत्युत्तम भक्त भगवान् से केवल भगवत्प्राप्ति ही चाहते हैं, अन्य वस्तु नहीं। इस तरह भक्तों में भी तीन भेद हो जाते हैं। इस तरह सप्तमाध्याय में भक्तों के भेद भी बताये गये हैं।

**भगवन्तं प्रेप्सोः।** भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा वाला भक्त नित्ययुक्त, एक-भक्ति-युक्त और परमपुरुष का अत्यन्त प्रिय होने के कारण सबसे श्रेष्ठ है। **नित्ययुक्त** का तात्पर्य है कि वह अहर्निश भगवच्चिन्तन में संलग्न है और जिस क्षण भगवान् का चिन्तन नहीं हो पाता, वह क्षण उसके लिये मास, वर्ष से अधिक जैसा दुःसह हो जाता है। भगवान् के चिन्तन के बिना शरीर धारण करने में असमर्थ सा हो जाता है। **एकभक्ति** का तात्पर्य है कि केवल परमात्मा की ही भक्ति करता है किन्तु देवतान्तर की भक्ति नहीं करता। भगवान् कह चुके हैं कि **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः** अर्थात् सब कुछ वासुदेव को मानने वाला महात्मा मुझे अतिशय प्रिय है। जिस तरह अनन्य भक्तों के लिये मैं अतिशय प्रिय हूँ, उसी तरह वे भक्त भी मेरे लिये अतिशय प्रिय हैं।

**दुर्लभत्वं च।** इस तरह उक्त भक्त की श्रेष्ठता और अत्यन्त दुर्लभता का प्रतिपादन करके फिर उक्त तीनों प्रकार के भक्तों के लिये जानने योग्य और प्राप्त

करने योग्य वस्तुओं के भेदों का भी (इस अध्याय में) वर्णन किया है। इसी लिये मूलश्लोक में कहा गया-**प्रबुद्धस्य श्रेष्ठं सप्तम उच्यते॥** इस तरह आठवें अध्याय का सारसंग्रह किय गया है॥१२॥

श्लोकार्थः:- **ऐश्वर्य**=लौकिक और अलौकिक ऐश्वर्य, **अक्षरयाथात्म्य**=विशुद्ध आत्मा का यथार्थ तत्त्वज्ञान और **भगवच्छरणार्थिनाम्**=भगवान् की शरणागति चाहने वाले भक्तों के लिये **वेद्य**=जानने योग्य और **उपादेय**=ग्रहण करने योग्य, **भावानाम्**=भावों, पदार्थों के, **भेदः**=भेद, प्रकार **अष्टमे उच्यते**=आठवें अध्याय में बताये जाते हैं।

**ऐश्वर्यमत्र**। उक्त पद्य के **ऐश्वर्य** शब्द से इन्द्र, प्रजापति, पशुपति आदि के भोगों से भी श्रेष्ठ जो भोग है, उसे कहा गया है। तादृश भोग का विवेचन आठवें अध्याय में किया गया है। प्रकृत श्लोक में **अक्षरयाथात्म्य** शब्द है, उसका तात्पर्य है- आत्मा का प्रकृतिसम्बन्ध से पृथक् स्थिति का यथार्थतत्त्वज्ञान। आत्मा वास्तविक रूप में प्रकृति से भिन्न है, इस तरह की आत्मा को **अक्षर** कहा जाता है। तादृश अक्षरयाथात्म्य के विषय में सप्तमाध्याय में वर्णन है। उक्त श्लोक में **वेद्य**, **उपादेय** और **भावों** का वर्णन है। यहाँ पर **वेद्य**-शब्द से **अक्षरं ब्रह्म परमम्** (८.३) आदि श्लोकों से वर्णित शुद्धात्म स्वरूपों का ग्रहण करना चाहिये अर्थात् प्रकृतिसम्बन्ध से रहित विशुद्ध आत्मा को यहाँ वेद्य (जानने योग्य) कहा गया है। **उपादेय** शब्द से उन-उनके अभीष्ट फल के अनुरूप परमपुरुष के चिन्तन रूप अन्तिम प्रतीति और परमपुरुषप्राप्ति रूप गति का चिन्तन बताया गया है। वैसे **उपादेय**-शब्द का सामान्य अर्थ **ग्राह्य** (ग्रहण करने योग्य) होता है। उक्त तत्तद्विषयानुरूप परमपुरुषचिन्तन, अन्तिमप्रत्यय और गतिचिन्तन आदि पदार्थों को ही **भाव** कहा गया है।

उक्त भावों के तत्तत् अधिकार के अनुरूप जो भेद हैं, उनका वर्णन आठवें अध्याय में किया गया है। श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी ने गीताभाष्य के अष्टमाध्याय के प्रथमश्लोक की प्रस्तावना में कहा है कि 'सातवें अध्याय में प्रस्तावना के रूप में कहे हुये जानने योग्य प्राप्त करने योग्य वस्तुभेदों का अब आठवें अध्याय में विवेचन करते हैं' इत्यादि। इस तरह लौकिक और अलौकिक ऐश्वर्य, विशुद्ध आत्मा का यथार्थ तत्त्वज्ञान और भगवान् की शरणागति चाहने वाले भक्तों के लिये जानने योग्य और ग्रहण करने योग्य भावों (पदार्थों) के प्रकार आठवें अध्याय में बताये गये हैं॥१२॥

**स्वमाहात्म्यं मनुष्यत्वे परत्वं च महात्मनाम्।  
विशेषो नवमे योगो भक्तिरूपः प्रकीर्तितः॥१३॥**

स्वमाहात्म्यम्- 'मया ततमिदं सर्वम्' (गीता-९.४) इत्यादिभिः शोधितम्। 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥' (गीता-९.११) इति परत्वस्य मनुष्यदशायामपि अव्ययत्वमुक्तम्। प्रस्तुतावतारविवक्षया मनुष्यावस्थत्वोक्तिस्तन्मुखेन सर्वेष्वप्यवतारेषु अव्ययः परमो भाव उपलिलक्षयिषितः।

.....

श्लोकार्थः- नवमे=नौवें अध्याय में, मनुष्यत्वे=भगवान् द्वारा मनुष्यत्व रूप में अवतार लेने पर भी, स्वमाहात्म्यम्=अपनी जो महत्ता है, उसकी विद्यमानता और परत्वम्=परमात्मा का जो परत्व है, उसका कथन, महात्मनाम्=महात्माओं में परमात्मा के प्रति होने वाली, विशेषः=विशेषता का, तथा जो भक्तिरूपः योगः=भक्तिरूप योग है, उसका, प्रकीर्तितः=वर्णन किया गया है।

स्वमाहात्म्यम्। भगवान् का अपना माहात्म्य नौवें अध्याय के चतुर्थ श्लोक से वर्णित है। 'यह चर अचर आदि सब कुछ भी है, वह मुझ से ही व्याप्त है' इस तरह से भगवान् ने ही अपने माहात्म्य का सार बताया है। इसी तरह नौवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में कहा है 'मूढ़ लोग मेरे परमभाव को न जानते हुये भूतों के महान् ईश्वर मुझ को मानवशरीरधारी समझ कर अवज्ञा किया करते हैं'। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानुषी शरीर धारण करने पर भी भगवान् का अव्ययत्व (अविनाशित्व) बना ही रहता है। वर्तमान में श्रीकृष्ण रूप में जो अवतार हुआ है, उसको ध्यान में रखकर मनुष्यशरीरधारी कहा है, अर्थात् मनुष्यावस्था तो उपलक्षण मात्र है। वास्तव में यह शरीर अन्य अवतारों में वराह, कूर्म, मत्स्य, नृसिंह आदि सभी अवतारों में भगवान् का परम अव्ययभाव (अविनाशित्व) अक्षुण्ण रहता है। यद्यपि भगवान् अपनी लीला से मनुष्यों का जैसा शरीर धारण कर लेते हैं किन्तु ईश्वरीय सभी शक्तियाँ उसमें विद्यमान रहती हैं। अत एव कहा जाता है कि भगवान् अजहत्स्वस्वभावः कहलाते हैं अर्थात् अपने ईश्वरीय स्वभावों को त्यागे बिना ही अवतार लेते हैं।

श्रीवरदराजस्तव में श्रीवत्सचिह्नमिश्र स्वामी जी ने कहा है- आप पर-रूप में हों, या व्यूह-रूप में हो या विभव-रूप में हों अथवा अर्चावतार-रूप



उक्तञ्च श्रीवत्सचिह्नमिश्रैः-

परो वा व्यूहो वा विभव उत वार्चावतरणो  
भवन् वान्तर्यामी वर वरद यो यो भवसि वै।  
स स त्वं सन्नैशान् वरगुणगणान् बिभ्रदखिलान्  
भजद्भ्यो भास्येवं सततमिरेभ्यस्त्वितरथा॥ इति।

(वरदराजस्तवे.१८)

‘महात्मानस्तु मां पार्थ’ (गीता-९.१३) इत्यादिना महात्मनां विशेषो विशोद्धितः। अत्र भक्तिरूपस्य योगस्यैव प्राधान्यं भाष्योक्तम्- ‘उपासकभेदनिबन्धनाविशेषाः प्रतिपादिताः, इदानीमुपास्यस्य परमपुरुषस्य माहात्म्यम्, ज्ञानिनां विशेषं च विशोध्य भक्तिरूपस्योपासनस्य स्वरूपमुच्यते’ इति॥१३॥

.....  
में हो, अपि च अन्तर्यामी-रूप में हों, हे वर! हे वरद! आप जिस-जिस स्वरूप में भी हों किन्तु समस्त ऐश्वर्यमय श्रेष्ठगुणों को धारण करते हुये ही रहते हैं और उन गुणों के सहित भक्तों के हृदय में निरन्तर अनुभवगम्य हो जाते हैं। जो भक्त नहीं हैं, उनके लिये भिन्न रूपों में होते हैं- इत्यादि। अर्थपञ्चक आदि में बताया गया है कि भगवान् के पाँच स्वरूप होते हैं- परस्वरूप, व्यूहस्वरूप, विभवस्वरूप, अन्तर्यामिस्वरूप और अर्चास्वरूप। नित्य श्रीवैकुण्ठ में श्रीभूनीलादेवियों के साथ विद्यमान भगवान् परस्वरूप हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनुरुद्ध रूप लेकर सृष्टि, स्थिति तथा संहार करने वाले व्यूहस्वरूप परमात्मा हैं। राम, कृष्ण, नृसिंह आदि अवतार लेकर भक्तरक्षण करने वाले परमात्मा विभवस्वरूप हैं। घट-घटवासी, कणकणवासी परमात्मा अन्तर्यामी हैं और सभी भक्तों के नयनसुलभ होकर मन्दिरों में विराजमान होने वाले परमात्मा अर्चावतारस्वरूप हैं। इन पाँचों स्वरूपों में भगवान् सभी गुण, स्वभाव, शक्ति आदि से विद्यमान रहते ही हैं। इन गुणों का अनुभव भक्त लोग तो करते हैं किन्तु अभक्तों को इनका आभास भी नहीं हो पाता, ऐसा श्रीवत्सचिह्नमिश्रस्वामी जी कहते हैं।

इस तरह मनुष्यत्वे स्वमाहात्म्यम् और परत्वम् का वर्णन किया गया। अब आगे महात्मनां विशेषः और भक्तिरूपः का विवेचन करते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ। गीतार्थसंग्रह में जो महात्मनाम् शब्द आया है,

**स्वकल्याणगुणानन्त्यकृत्स्नस्वाधीनतामतिः।**

**भक्त्युत्पत्तिविवृद्ध्यर्था विस्तीर्णा दशमोदिता॥१४॥**

अत्र नवमसङ्गतिपूर्वकं भाष्यम्- 'भक्तियोगः सपरिकर उक्तः, इदानीं भक्त्युत्पत्तये तद्विवृद्ध्यै च भगवतो निरङ्कुशैश्वर्यादिकल्याण-गुणानन्त्यं वक्तुं कृत्स्नस्य जगतस्तच्छरीरतया तदात्मकत्वेन तत्प्रवर्त्यत्वं च प्रपञ्च्यते' इति।

.....  
उसके विषय में कहते हैं कि गीता के 'महात्मानस्तु मां पार्थ' (९.१३) (दैवी प्रकृति के आश्रित अनन्य मन वाले महात्मा लोग मुझे समस्त प्राणियों का आदि और अविनाशी समझ कर भजते हैं) के अनुसार महात्माओं के स्वरूप का विशोधन किया गया है अर्थात् जो इस तरह परमात्मा का चिन्तन करते हैं, वे ही महात्मा हैं।

अत्र भक्तिरूपस्य। इस अध्याय में भक्तियोग की ही प्रधानता बतायी गयी है। गीता के श्रीरामानुजभाष्य में भी भक्तियोग की प्रधानता ही बतायी गयी है। जैसे कि- 'उपासकों की भिन्नता से सम्बन्ध रखने वाले भेदों का प्रतिपादन आठवें अध्याय में किया जा चुका है। अब उपास्यदेव परमपुरुष का माहात्म्य और ज्ञानियों के भेद को स्पष्ट करके भक्तिरूप उपासन (भक्तिरूपा उपासना) का स्वरूप बतलाया जाता है' इत्यादि। इस भाष्य से भी सिद्ध है कि गीता के नौवें अध्याय में भक्तियोग का भी वर्णन किया गया है॥१३॥

श्लोकार्थः- स्वकल्याण-गुण-आनन्त्य=भगवान् के कल्याण गुणों का अनन्तता, कृत्स्नस्वाधीनतामतिः=भगवान् के स्वाधीन ही अपने को मानने वाली मति, भक्ति-उत्पत्ति-विवृद्धि-अर्था=जो भक्तियोग की उत्पत्ति और उसकी वृद्धि के लिये विस्तृतरूप से वर्णित है, उसका दशमे उदिता=दशम अध्याय में वर्णन किया गया है॥

उपर्युक्त पद्यानुसार दसवें अध्याय का विषय है- भगवान् के अनन्त कल्याण गुणों का ज्ञान, भगवान् के अधीन ही हमारी बुद्धि रखना अनिवार्य है, जिससे कि भक्ति की उत्पत्ति भी होती है और उत्पन्न भक्ति की विवृद्धि भी। इस तरह बुद्धि उत्पन्न करना उक्त अध्याय की विषयवस्तु है।

अत्र नवमसङ्गतिपूर्वकम्। गीतार्थसंग्रह के इस श्लोक की व्याख्या

एकादशारम्भे च भाषितम्- 'एवं भक्तियोगनिष्पत्तये तद्वृद्धये च सकलेतरविलक्षणेन स्वाभाविकेन भगवदसाधारणेन कल्याणगुणगणेन सह भगवतः सर्वात्मकत्वम्, तत एव तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य चिदचिदात्मकस्य वस्तुजातस्य तच्छरीरतया तदायतस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं चोक्तम्, तमेतं भगवदसाधारणं स्वभावं कृत्स्नस्य तदायतस्वरूपस्थिति-प्रवृत्तितां च भगवत्सकाशादुपश्रुत्य एवमेवेति निश्चित्य तथाभूतं भगवन्तं साक्षात्कर्तुंकामोऽर्जुन उवाच' इति॥१४॥

गीताभाष्य में नवमाध्याय की संगतिपूर्वक दसवें अध्याय की अवतरणिका के रूप में भाष्यकार ने उपस्थापित किया है। जैसे- 'नवम अध्याय तक सभी अंगों सहित भक्तियोग का वर्णन किया गया। अब दसवें अध्याय में भक्ति की उत्पत्ति और उसकी वृद्धि के लिये यह बात विस्तारपूर्वक कहते हैं कि 'भगवान् के निरंकुश अर्थात् स्वतन्त्र ऐश्वर्य आदि, कल्याणमय अनन्त गुणगण हैं' इस विषय को स्पष्टतया बताने के लिये सम्पूर्ण जगत् भगवान् का ही शरीर है, ऐसा बताते हैं। अतः वे ही सबके आत्मा हैं और यह सारा जगत् भगवान् से प्रवर्त्य है' यह भी बताया जा रहा है। भगवान् के ऐश्वर्य और गुणों के विषय में जानकारी होने पर ही उनके प्रति भक्ति उत्पन्न हो सकती है और पुनः उसकी वृद्धि भी हो सकती है। गीता के दसवें अध्याय से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है और परमात्मा सबके अन्तर्यामी आत्मा हैं। उपनिषदों के द्वारा भी यह बात सिद्ध है। भगवान् ही इस चराचर जगत् के सृष्टिकर्ता होने के कारण यह जगत् परमात्मा द्वारा प्रवर्त्य=प्रवर्तनीय है ही।

**एकादशारम्भे च।** दसवें अध्याय में 'भक्ति की उत्पत्ति और उसकी वृद्धि के लिये भगवान् के निरंकुश अर्थात् स्वतन्त्र ऐश्वर्य आदि कल्याणमय अनन्त गुणगण हैं और सम्पूर्ण जगत् भगवान् का ही शरीर है तथा वे ही सबके आत्मा हैं और यह सारा जगत् भगवान् से प्रवर्त्य है' यही बात बतायी गयी है और गीतार्थसंग्रह के प्रकृतश्लोक में उसी विषय का सारसंग्रह किया गया है, यह बात भाष्यकार ने ग्यारहवें अध्याय की अवतरणिका में भी दशमाध्याय की संगति दिखाते हुये गीताभाष्य में कहा भी है- 'इस प्रकार (दशमाध्याय में) भक्तियोग की सिद्धि और उसकी वृद्धि के लिये अन्य सबसे विलक्षण भगवान् के असाधारण स्वाभाविक कल्याणमय गुणगणों के साथ भगवान् की सर्वात्मता का वर्णन हुआ

## एकादशे स्वयाथात्म्यसाक्षात्कारावलोकनम्। दत्तमुक्तं विदिप्राप्त्योर्भक्त्येकोपायता तथा॥१५॥

साक्षात्कारहेतुभूतमवलोकनं साक्षात्कारावलोकनम्। अवलोक्यते-  
ऽनेनेति अवलोकनमिह दिव्यं चक्षुः। विदिप्राप्त्योरिति दर्शनस्याप्युपलक्षणम्।  
तथाहि गीयते-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ (११.५४) इति।

.....  
और भगवान् के अतिरिक्त सम्पूर्ण जड़-चेतन वस्तुमात्र उनका ही शरीर होने के कारण सबके स्वरूप की स्थिति और प्रवृत्ति के आधार भगवान् ही हैं, ऐसा कहा गया। अब भगवान् के इस असाधारण स्वभाव को और समस्त जगत् की स्वरूप-स्थिति और प्रवृत्ति उन्हीं के आश्रित है, इस बात को भगवान् के मुखारविन्द से सुनकर यह इसी प्रकार ही है ऐसा निश्चय करके वैसे भगवान् को प्रत्यक्षतया देखने की इच्छा वाले अर्जुन ने कहा है' इत्यादि। गीताभाष्य के इस विवेचन से ही गीतार्थसंग्रह के प्रकृत श्लोक का अर्थ गतार्थ हो जाता है॥१४॥

श्लोकार्थः- स्वयाथात्म्य=अपनी (भगवान् श्रीवासुदेव की) यथार्थता का, साक्षात्कारावलोकनम्=साक्षात् दर्शन के लिये, दत्तम्=दिव्यचक्षु का प्रदान करना (अपने यथार्थस्वरूप का दर्शन कराना) तथा=इसी तरह, विदिप्राप्त्योः=भगवत्-सम्बन्धी ज्ञान और भगवत्प्राप्ति के लिये, भक्ति-एक-उपायता=एक मात्र भक्ति की उपायता का वर्णन, एकादशे=ग्यारहवें अध्याय में किया गया है।

साक्षात्कारहेतुभूतम्। यहाँ मूल श्लोक में साक्षात्कारावलोकनम् पद है। इसका विशेष अर्थ है- साक्षात्कार का जो हेतु, तादृश अवलोकन को साक्षात्कारावलोकन कहते हैं। इस तरह की व्युत्पत्ति से अवलोकन-शब्द का अर्थ यहाँ पर जिसके द्वारा देखा जाता है, वह दिव्यचक्षु लिया गया है। साक्षात्कारावलोकनं दत्तम् का अर्थ हुआ- दिव्यचक्षु प्रदान किया। दिव्यचक्षुओं के द्वारा भगवान् का अवलोकन हो सकता है, प्राकृत चक्षुओं से भगवान् को देखा नहीं जा सकता। अत एव भगवान् ने अपने विश्वरूप दर्शन के लिये अर्जुन को दिव्यचक्षु प्रदान किये थे। श्लोक में विदि-प्राप्ति शब्द दर्शन के भी उपलक्षण हैं अर्थात् ज्ञान और प्राप्ति से भगवद्दर्शन अर्थ भी समझना चाहिये। भगवान्

अयं तु सङ्ग्रहो द्वादशारम्भे सङ्गतिं विवक्षद्भिर्व्याख्यातः-  
 'भक्तियोगनिष्ठानां प्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो नारायणस्य  
 निरङ्कुशैश्वर्यं साक्षात्कर्तुंकामायाजुनायानवधिकातिशयकारुण्यौदार्य-  
 सौशील्यादिगुणसागरेण सत्यसङ्कल्पेन भगवता स्वैश्वर्यं यथावस्थितं दर्शितम्।  
 उक्तञ्च- 'तत्त्वतो भगवज्ज्ञानदर्शनप्राप्तीनामैकान्तिकात्यन्तिकभगव-  
 द्भक्त्येकलभ्यत्वम्' इति॥१५॥

.....  
 श्रीभाष्यकार ने श्रीभाष्य में ध्यान, भक्ति, वेदन, उपासन, दर्शन और निदिध्यासन को समानार्थक माना है। वेदन, विद्या आदि का अर्थ केवल जानना मात्र अर्थ न होकर ध्यान, अनुस्मरण भी है। इसी तरह उपासन, दर्शन, निदिध्यासन का अर्थ भी समझना चाहिये।

तथाहि गीयते। उपर्युक्त अर्थ का प्रतिपादन गीता के भक्त्या त्वनन्यया शक्य ( ११.५४ ) इस श्लोक से किया गया है। ध्यान रहे कि जो बात गीता के द्वारा बतायी जाती है, उसके लिये गीयते लिखते हैं, जो बात श्रुतियों से बतायी जाती है, उसे श्रूयते लिखते हैं और जो बात स्मृतियों से बतायी जाती है, उसके लिये स्मर्यते लिखते हैं।

उपर्युक्त भक्त्या त्वनन्यया श्लोक का अर्थ है- अर्जुन! ( मेरी भक्ति से रहित केवल अध्यापन, प्रवचन, अध्ययन, श्रवण, यज्ञ, दान, होम और तप द्वारा अपने यथार्थरूप में स्थित मैं नहीं देखा जा सकता ) किन्तु अन्यन्य-भक्ति द्वारा ही शास्त्रीय पद्धति से तत्त्वतः जाना जा सकता हूँ, तत्त्वतः साक्षात् किया जा सकता हूँ और तत्त्वतः प्रवेश भी किया जा सकता हूँ।

अयं तु संग्रहः। गीतार्थसंग्रह के पन्द्रहवें श्लोक का अर्थ भगवद्-रामानुजाचार्य स्वामी जी महाराज ने द्वादशाध्याय के आरम्भ में पूर्वाध्याय की संगति दिखाते हुये बतलाया है- ' भक्तियोग में निष्ठा रखने वाले भक्तों को प्राप्त होने योग्य परब्रह्म भगवान् श्रीमन्नारायण के निरङ्कुश=सर्वतन्त्रस्वतन्त्र ऐश्वर्य के दर्शन की इच्छा रखने वाले अर्जुन को अपार अतिशय कारुण्य, अपार अतिशय औदार्य, अपार अतिशय सौशील्य आदि गुणसमूह के सागर, सत्ससंकल्प भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित ऐश्वर्य दिखलाया है। कहा भी गया है कि तत्त्वतः भगवान् का ज्ञान, उनके दर्शन और उनकी प्राप्ति ये सब केवल एकमात्र भगवान् की अनन्य और आत्यन्तिक=सार्वकालिक भक्ति से ही लभ्य है।'

**भक्तेः श्रेष्ठ्यमुपायोक्तिरशक्तस्यात्मनिष्ठता।  
तत्प्रकारास्त्वतिप्रीतिर्भक्ते द्वादश उच्यते॥१६॥**

अत्र च भाष्यम्- 'अनन्तरमात्मप्राप्तिसाधनभूतादात्मोपासना-  
द्भक्तिरूपस्य भगवदुपासनस्य स्वसाध्यनिष्पादने शैघ्र्यात्, सुसुखो-  
पादानत्वाच्च श्रेष्ठ्यम्, भगवदुपासनोपायश्च तदशक्तस्याक्षरनिष्ठता  
तदपेक्षिताश्चोच्यन्ते' इति।

.....  
इस संगतिभाष्य से एकादशाध्याय वाले गीतार्थसंग्रहश्लोक का अर्थ स्पष्ट  
हो जाता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् भगवान् का यथार्थ ज्ञान, भगवान् का यथार्थ  
दर्शन और भगवान् की प्राप्ति भगवान् के द्वारा ही प्राप्य हो सकता है और वह  
केवल भगवान् की अनन्यभक्ति और आत्यन्तिक भक्ति से ही सम्भव है॥११॥

ग्यारहवें अध्याय के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन पन्द्रहवें श्लोक से  
करके अब सोलहवें श्लोक से बारहवें अध्याय का विवेचन करते हैं-

श्लोकार्थः- द्वादशे=बारहवें अध्याय में, भक्तेः श्रेष्ठ्यम्=भक्ति की  
श्रेष्ठता, उपायोक्तिः=भगवत्प्राप्ति के उपाय का कथन, अशक्तस्य आत्मनिष्ठता=  
उसमें अशक्त व्यक्ति के लिये आत्मनिष्ठा, तत्प्रकाराः=आत्मनिष्ठा के प्रकार,  
तु=और, भक्ते अतिप्रीतिः=भक्त में होने वाली अतिशय प्रीति का, उच्यते=वर्णन  
किया गया है।

अत्र च भाष्यम्। इस श्लोक के विषय में गीताभाष्य में श्रीरामानुजस्वामी  
जी ने कहा है कि 'इसके बाद आत्मप्राप्ति के साधनरूप आत्मोपासना की अपेक्षा  
भगवान् की भक्तिरूप उपासना अपने साध्य को शीघ्र सिद्ध कराने वाली हैं और  
वह सुखपूर्वक की जा सकती हैं, अत एव भगवद्भक्ति श्रेष्ठ है, तथा भक्तियोग  
में असमर्थ अधिकारी के लिये भगवत् उपासना की साधनरूपा अक्षरनिष्ठता  
(आत्मोपासना) तथा उसके लिये अपेक्षित साधन भी श्रेष्ठ हैं, यह बताया जा रहा  
है' इत्यादि। आत्मोपासना से कैवल्य आत्मा की प्राप्ति होती है, उसमें कैवल्य  
प्राप्ति के बाद भगवत्सान्निध्य का अनुभव नहीं होता। अतः एव आत्मोपासना की  
अपेक्षा भक्तिरूपा उपासना श्रेष्ठ है ही, क्योंकि भक्तिरूपा उपासना से साक्षात्  
भगवान् की भगवान् प्राप्ति करके अनन्त काल भगवान् के सौन्दर्य, सौशील्य,  
वात्सल्य, लावण्य, औदार्य आदि आदि अनन्त गुणों का अनुभव होता रहता है और

अत्र अतिप्रीतिर्भक्ते- इत्यस्योपादानमुपसंहारमात्रताव्यञ्जनार्थम्।  
उपायोक्तिः- 'अथ चित्तं समाधातुम्' इत्यादिश्लोकद्वयेन कृता। भगवति  
चित्तं समाधातुमशक्तस्य भगवद्गुणाभ्यासः, तत्राप्यशक्तस्य प्रीतिपूर्वक-  
भगवदसाधारणकर्मकरणम्, तस्मिन्नप्यसमर्थस्यात्मनिष्ठेति क्रमः।

तत्प्रकाराः- कर्मयोगाद्यपेक्षिताः 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (१२.  
१३) इत्यादिनोक्ता उपादेयगुणप्रकाराः। तथा च तत्र भाषितम्-  
'अनभिसंहितफलकर्मनिष्ठस्योपादेयान् गुणानाह' इति।

तादृश मुक्त जीव अपहतपाप्मत्वादि से लेकर सत्यसंकल्प तक आठों गुणों से  
सम्पन्न हो जाता है। जो भक्तियोग में असमर्थ हैं, उनके लिये ही अक्षरनिष्ठता  
अर्थात् आत्मोपासना का कथन किया गया है, जिससे केवल कैवल्य की प्राप्ति  
होती है। गीता में अक्षर-शब्द का अर्थ प्रकृतिसंसर्ग से वियुक्त विशुद्ध आत्मा है।

अत्र अतिप्रीतिर्भक्ते। गीतार्थसंग्रह के इस श्लोक में अतिप्रीतिः भक्ते  
शब्द का ग्रहण केवल उपसंहार मात्र को व्यक्त करता है। उपायोक्तिः का तात्पर्य  
गीता के इस अध्याय में अथ चित्तं समाधातुम् से शुरू करके दो श्लोकों के द्वारा  
बताया गया है। भगवान् में चित्त लगाने में भी जो असमर्थ हैं, उनके लिये भगवान्  
के गुणों का अभ्यास करना और उसमें असमर्थ भक्तों के लिये प्रीतिपूर्वक भगवान्  
के असाधारण कैकर्य करना, उसमें भी समर्थ होने पर आत्मनिष्ठा रखना यह  
क्रम भी बारहवे अध्याय में बताया गया है।

तत्प्रकाराः। गीतार्थसंग्रह में तत्प्रकाराः जो शब्द आया है, उसका तात्पर्य  
यह है कि कर्मयोग के लिये अपेक्षित ग्रहण करने योग्य गुणों के प्रकार बारहवें  
अध्याय में बताये गये हैं। वह गीता में अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् आदि श्लोकों से  
वर्णित है। ये गुण हैं सब भूतप्राणियों में साथ द्वेष न करना, मित्रता, दयाभावना,  
ममत्तरहित, अहंकाररहित, सुख-दुःख में समानता, क्षमाशीलता, सन्तुष्टि, नित्य  
योगी, मन की वृत्तियों को वश में करना, दृढनिश्चय, परमात्मा में ही मन और  
बुद्धि को अर्पण करना, संसार से उद्विग्न न होना और संसार को भी उद्विग्न न  
करना, हर्ष-अमर्ष-उद्वेग से मुक्त होना, अपेक्षाबुद्धि न रखना, शुद्धि, दक्षता,  
उदासीनता, व्यथाहीनता, आरम्भों का त्याग करना, हर्ष-द्वेष से रहित, शोकरहित,  
आकांक्षा रहित रहना, शुभाशुभों के परित्यागपूर्वक भक्ति, शत्रु-मित्रों में समानता,

अतिप्रीतिर्भक्ते- 'ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तम्' इत्यादिना अध्यायान्तिमश्लोकेनोक्ता। तदभिप्रेतं चैवमुक्तम्- 'अस्मादात्मनिष्ठा-  
द्भक्तियोगनिष्ठस्य श्रेष्ठ्यं प्रतिपादयन् यथोपक्रममुपसंहरति' इति॥१६॥

**देहस्वरूपमात्माप्तिहेतुरात्मविशोधनम्।**

**बन्धहेतुर्विवेकश्च त्रयोदश उदीर्यते॥१७॥**

अत्र भाष्यम्- 'तत्र तावत् त्रयोदशो देहात्मनोः स्वरूपम्, देहयाथात्म्यशोधनम्, देहवियुक्तात्मप्राप्त्युपायः, विविक्तात्मस्वरूपशोधनं तथाविधस्यात्मनश्चाचित्सम्बन्धहेतुः, ततो विवेकानुसन्धानप्रकारश्चोच्यते' इति।

मान-अपमान में समानता, शीत-उष्ण में समानता, सुख-दुःख में समानता, निन्दा-स्तुति में समानता, मौन, हर प्रकार से सन्तुष्ट, संग्रह न करना, स्थिरबुद्धि इन सभी गुणों से युक्त होना भक्त के प्रकार हैं। भगवान् भाष्यकार ने भी उक्त श्लोक की अवतरणिका में कहा है कि 'अब गीताचार्य इस अध्याय में फल की आकांक्षा न रखने वाले और आसक्ति से रहित होकर कर्म करने में निष्ठा रखने वाले पुरुष के लिये उपादेय गुण बतलाते हैं' इत्यादि। अतः उपर्युक्त गुण अनासक्त भक्ता के लिये उद्गादेय (ग्राह्य) गुण हैं।

अतिप्रीतिर्भक्ते। संग्रहोक्त अतिप्रीतिर्भक्ते का तात्पर्य इसी अध्याय के अन्तिम श्लोक 'ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तम्' इत्यादि से बतलाया गया है। उक्त श्लोक का अर्थ है- जो पहले कहे हुए इस धर्म से परिपूर्ण का अनुष्ठान करते हैं, वे श्रद्धायुक्त मेरे परायण भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं। भगवान् को भक्त इस तरह अतिशय प्रिय होते हैं। इसी श्लोक की अवतरणिका में भाष्यकार ने कहा है कि 'उपर्युक्त आत्मनिष्ठासम्पन्न पुरुष की अपेक्षा भगवद्भक्तियोगनिष्ठ पुरुष के विषय में उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुये भगवान् आरम्भ किये हुये प्रसंग का उपसंहार करते हैं' इत्यादि। भगवान् को भी आत्मोपासक की अपेक्षा अपने भक्त अतिशय प्रिय हैं। इस तरह केवल कैवल्य प्राप्ति के इच्छुक आत्मनिष्ठासम्पन्न पुरुष की अपेक्षा भगवद्भक्तियोग में निष्ठ पुरुष श्रेष्ठता जो मूलश्लोक में बतायी गयी थी, वह सिद्ध होती है॥१६॥



अत्र देहस्वरूपमित्यनेनैवाभिप्रेतं देहात्मनोः स्वरूपमिति।  
देहयाथात्म्यशोधनमिति च विवृतम्। आत्माप्तिहेतुः- 'अमानित्वम्'  
(गीता-१३.७) इत्यादिभिरुक्तः। आत्मविशोधनम्- 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि'  
(गीता-१३.१२) इत्युपक्रम्य कृतम्।

बन्धहेतुस्तु- 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गीता-१३.  
२१) इत्युक्तः। 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति'(गीता-१३.२४) इत्यादिना  
विवेकानुसन्धानप्रकारो यथाधिकारं दर्शितः॥१७॥

.....  
श्लोकार्थः- त्रयोदशे=तेरहवें अध्याय में, देहस्वरूप=देह और आत्मा  
का स्वरूप, आत्माप्तिहेतुः=आत्मप्राप्ति का हेतु, आत्मविशोधनम्=आत्मा के  
स्वरूप का स्पष्टीकरण, बन्धहेतुः=संसार-बन्धन का हेतु, च=और, विवेकः=विवेक,  
ये पाँच विषय, उदीर्यन्ते=बताये गये हैं॥

अत्र भाष्यम्। इस अध्याय का अवतरणिका-भाष्य इस प्रकार है जो  
गीतार्थसंग्रह के सत्रहवें श्लोक की व्याख्या ही है- 'उस अन्तिम षट्क के प्रारम्भ  
तेरहवें अध्याय में पहले शरीर और आत्मा के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया  
है, शरीर के सम्बन्ध से रहित आत्मा की प्राप्ति का उपाय बताया गया है,  
प्रकृतिसंसर्ग से रहित आत्मा के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है और वैसे  
ही आत्मा का जड़ के साथ सम्बन्ध होने में कारण बताया गया है तथा उसके  
अनन्तर दोनों में जो अन्तर है, उसके विवेचन का प्रकार बतलाया गया है' इत्यादि।

अत्र देहस्वरूपम्। प्रकृत गीतार्थसंग्रह श्लोक में पठित देहस्वरूपम्  
शब्द से देह और आत्मा के स्वरूप अर्थः अभिप्रेत है। देह के याथात्म्य के  
स्पष्टीकरण की व्याख्या पहले ही जा चुकी है।

आत्माप्तिहेतुः। आत्माप्तिहेतु-शब्द का तात्पर्य इसी अध्याय के सातवें  
श्लोकों से कहा गया है कि मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता,  
आचार्य की उपासना, शौच (शुचिता), स्थिरता, मन की भलीभाँति निग्रह, इन्द्रियों  
के भोगों में वैराग्य, अहंकारहीनता, जन्ममृत्युजराव्याधि एवं दुःखरूप दोष को  
बार-बार देखना, अनासक्ति, पुत्र, स्त्री, घर आदि में अलिप्तता, इष्ट और अनिष्ट  
की प्राप्तियों में सदा समचित्त रहना, मुझ (परमात्मा) में अनन्य योग से

## गुणबन्धविधा तेषां कर्तृत्वं तन्निवर्तनम्। गतित्रयस्वमूलत्वं चतुर्दश उदीर्यते॥१८॥

.....  
अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देश के सेवन करने का स्वभाव और जनसमुदाय में अप्रीति, अध्यात्मज्ञान में नित्यस्थिति, तत्त्वज्ञान के अर्थ का दर्शन इत्यादि ही आत्मप्राप्ति के हेतु हैं और इससे भिन्न जो भी है, वह आत्मप्राप्ति का विरोधी है।

**आत्मविशोधन** के विषय में गीता के इस अध्याय में बारहवें श्लोक से बताया गया है कि भगवान् ने कहा है- 'जो ज्ञेय है, उसको मैं कहूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमृत प्राप्त कर लेता है, वह अनादि मत्पर और ब्रह्म है। वह न तो सत् और और ना ही असत् ही है। वह आत्मा (परमात्मा) सब ओर हाथ, पैर, सब ओर नेत्र, शिर, मुख वाला तथा सब ओर कान वाला है तथा इस जगत् में सबको ढककर स्थित हो रहा है। वह सब इन्द्रियों के गुणों के द्वारा भासमान सब इन्द्रियों से रहित और अनासक्त है किन्तु वह सबका धारण करता है। वैसे तो वह निर्गुण है परन्तु गुणों का भोक्ता भी है' इत्यादि। इस तरह बीसवें श्लोक तक उक्त परमात्मा के चिन्तन से आत्मशोधन की प्रक्रिया बतायी गयी है।

**बन्धहेतुस्तु।** श्लोकोक्त बन्धहेतु का तात्पर्य बता रहे हैं। संसारबन्धन का हेतु बन्धहेतु है, जो इसी अध्याय के इक्कीसवें श्लोक 'कारणं गुण' इत्यादि से बताया गया है। उसका तात्पर्य यह है कि सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों का संग ही उसके अच्छी, बुरी योनियों में जन्म का कारण है। संसार में बारम्बार जन्म ही बन्ध है।

**विवेक।** प्रकृत श्लोक में बताया गया था कि तेरहवें अध्याय में विवेक के विषय में चर्चा की गयी है। वह विवेकानुसन्धान इसी अध्याय के चौबीसवें श्लोक में दिखाया गया है। जैसे कि 'कितने ही पुरुष आत्मा (शरीर) में स्थित आत्मा को मन से ध्यान के द्वारा देखते हैं, कुछ लोग तो सांख्ययोग के द्वारा और दूसरे कर्मयोग के द्वारा देखते हैं' इत्यादि से लेकर अन्तिम श्लोक से यह कहा गया है कि 'क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ के भेद को और भूत-प्रकृति के मोक्ष को जो ज्ञाननेत्रों के द्वारा जान लेते हैं, वे परमतत्त्व को प्राप्त होते हैं' इत्यादि। इस तरह ज्ञान करना ही विवेक या विवेकानुसन्धान है। इस तरह के विवेक का ही गीतार्थसंग्रह में विवेक-शब्द से संकेतित किया गया है॥१७॥

अत्र प्रकृतिविशोधनरूपतया सङ्गतिपूर्वकं भाष्यम्- 'त्रयोदशे प्रकृतिपुरुषयोरन्योन्यसंसृष्टयोः स्वरूपयाथात्म्यं विज्ञाय अमानित्वादिभिर्भगवद्भक्त्यनुगृहीतैर्बन्धान्मुच्यते' इत्युक्तम्। तत्र बन्धहेतुः पूर्वपूर्वसत्त्वादि-गुणमयसुखादिसङ्ग इति चाभिहितम्- 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्मसु' (गीता-१३.२१) इति। अथेदानीं गुणानां बन्धहेतुताप्रकारो गुणनिवर्तनप्रकारश्चोच्यते' इति।

गुणकर्तृत्वादेरिह भाष्येऽनुक्तिः पूर्ववदेवेति भाष्यम्। सत्त्वं सुखज्ञानसङ्गेन बध्नाति, रजस्तु कर्मसङ्गेन, तमस्तु प्रमादालस्यनिद्राभिरिति बन्धहेतुताप्रकारः, तेषां कर्तृत्वं प्रागुक्तप्रकारेण प्राप्ताप्राप्तविवेकेन तेष्वारोपितम्। तच्चात्र 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' (गीता-१४.१९) इति स्मारितम्।

.....  
श्लोकार्थः- चतुर्दशे=चौदहवें अध्याय में, गुणबन्धविधाः=गुणों के द्वारा जीवात्मा के बन्धन का प्रकार, तेषां कर्तृत्वम्=गुणों में रहने वाला कर्तृत्व, तन्निवर्तनम्=गुणों से निवर्तन होने का उपाय, गतित्रयस्वमूलत्वम्=अक्षर-ऐश्वर्य-भगवत्प्रातिरूप इन तीन गतियों के मूलकारण, ये सब उदीर्यते=बताये जाते हैं।

अत्र प्रकृतिविशोधनरूपतया। प्रकृत श्लोक में गुणबन्धविधाः पद आया है। गुण-शब्द से प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् ये गुण लिये जाते हैं। ये गुण ही जीवात्मा को संसारबन्ध में रखते हैं। तादृश प्रकृति गुणों के स्पष्टीकरण के साथ इसकी संगतिभाष्य इस प्रकार है- 'तेरहवें अध्याय में यह कहा गया कि परस्पर संयुक्त हुये प्रकृति और पुरुष का यथार्थ स्वरूप जानकर भगवद्भक्ति से अनुगृहीत अमानित्व, अदम्भित्व आदि गुणों के सेवन के द्वारा मनुष्य भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। वहाँ पर भवबन्धन का हेतु 'कारणं गुण०' इस श्लोक के द्वारा पूर्व-पूर्व जन्मों में प्राप्त सत्त्व आदि गुणों के कार्यरूप सुख-दुःख आदि का संग ही बताया गया है। अथेदानीं गुणानाम्। अब चौदहवें अध्याय में जिस प्रकार उक्त त्रिगुण बन्धन के हेतु होते हैं वह बताया जाता है और उन गुणों से निवर्तन होने का तरीका भी बताया जाता है।

गुणकर्तृत्वादेरिह। गीताभाष्य में गुणों के कर्तृत्व आदि के विषय में तो

गुणनिवर्तनप्रकारस्तु- 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्प्यते' (गीता-१४.२६) इत्यन्तेनोक्तः। अत एवात्र 'गतित्रयस्वमूलत्वम्' इत्येतत् 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इत्यध्यायान्तिमश्लोकोक्तमेव सङ्गृह्णाति।

.....  
पूर्ववत् ही अङ्ग मानने के कारण नहीं बताया गया है, ऐसा समझ लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि गीतार्थसंग्रह में तेषां गुणानां कर्तृत्वम् कहा गया है किन्तु उक्त विवरणभाष्य में गुणानां कर्तृत्वम् का विवेचन किया नहीं गया है। इसका तात्पर्य यही है कि यह पहले के अध्यायों में विवेचित है, और यहाँ उसका अनुवाद मात्र है। सत्त्वादिगुण जिस प्रकार से बन्धन में डालते हैं, उसे आगे बताया जा रहा है-

**सत्त्वं सुखज्ञानसङ्गेन बध्नाति।** सत्त्वगुण सुख और ज्ञान की आसक्ति से बन्धन का हेतु बनता है अर्थात् सत्त्वगुण भी बन्धन का हेतु बनता है।

**रजस्तु कर्मसङ्गेन।** रजोगुण कर्मसंग से मनुष्य को बाँधता है। इस तरह रजोगुण भी मनुष्य के लिये बन्धन का हेतु बनता है।

**तमस्तु प्रमादालस्यनिद्राभिरिति बन्धहेतुताप्रकारः।** तमोगुण तो प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदि के द्वारा बन्धन का हेतु है। इस तरह बन्धनहेतु का प्रकार बताया गया है।

**तेषां कर्तृत्वम्।** उन गुणों का कर्तृत्वपन पहले कहे गये प्राप्ताप्राप्तविवेक के अनुसार उनमें आरोपित करचा चाहिये। स्मरण रहे कि पहले सातवें श्लोक में बताया जा चुका है कि गुणों में कर्तृत्व का आरोप करना चाहिये। उसी का स्मरण गीता के इसी अध्याय के उन्नीसवें श्लोक 'नान्यः गुणेभ्यः कर्तारम्' (१४. १८) से कराया गया है। जैसे कि 'जब द्रष्टा पुरुष सत्त्वादि त्रिगुणों से भिन्न दूसरे को कर्ता नहीं देखता और गुणों से परे आत्मा को अकर्ता जानता है, तब वह मेरे भावों को प्राप्त होता है' इत्यादि। यहाँ पर प्राप्ताप्राप्तविवेक का तात्पर्य है कि गुणों का संग होने पर गुणों में आरोपित किया जाने वाला कर्तृत्व स्वतः जीवात्मा में आ जाता है, अत एव कर्मों का फल भोगने के लिये पुनः जन्म लेना आवश्यक हो जाता है। यदि कर्तृत्वपन अपने में न मानकर प्रकृति के उन तीनों गुणों में आरोपित किया जाता है तो कर्मफल भोगने के लिये जीवात्मा बाध्य नहीं होता। इस तरह मूलश्लोकोक्त गुणबन्धप्रकार, गुणों का कर्तृत्व इन दोनों का निरूपण किया गया। अब आगे गुणनिवर्तनप्रकार बता रहे हैं।

तत एव हि तत्रैवं भाषितम्- पूर्वत्र 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव हि प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥' (गीता-७.१४) इत्यारभ्य गुणात्ययस्य तत्पूर्वकाक्षरैश्वर्यभगवत्प्राप्तीनां च भगवत्प्रपत्येकोपायतायाः प्रतिपादितत्वादेकान्तभगवत्प्रपत्येकोपायो गुणात्ययस्तत्पूर्वको ब्रह्मानुभवश्चेति। 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति' (गीता-१४.१८) इत्याद्युक्तगतित्रयविवक्षायां तु सङ्ग्रहक्रमभङ्गः स्यात्॥१८॥

गुणनिवर्तनप्रकारस्तु। गीतार्थसंग्रह में गुणों से निवर्तन का प्रकार बताया गया है, ऐसा कहा गया था। वह निवर्तनप्रकार इस प्रकार है- गीता के इस अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में- 'जो अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरा सेवन करता है, वह इन गुणों को लाँघकर ब्रह्मभाव की प्राप्ति के योग्य हो जाता है'। यही है त्रिगुणों से छूटने का प्रकार, उपाय। इसी लिये ही संग्रह के गतित्रयस्वमूलत्वम् का अर्थ भाष्यकार ने इसी अध्याय के अन्तिम 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इत्यादि श्लोकोक्त तात्पर्य के रूप में संगृहीत किया है।

तत एव हि। जैसा कि उक्त श्लोक के भाष्य में भगवद्रामानुजाचार्य स्वामी जी ने कहा है कि 'पूर्वकथित सातवें अध्याय में 'दैवी ह्येषा' इस श्लोक से लेकर यही प्रतिपादन किया गया है कि गुणों से अतीत होने का तथा तत्पूर्वक अक्षर, ऐश्वर्य और भगवत्प्राप्ति का भी उपाय केवल एक भगवत्प्रपत्ति=भगवान् की शरणागति ही है। इस लिये गुणों से अतीत होने के लिये एकमात्र उपाय ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भगवत्-शरणागति ही है' इत्यादि। जीवात्मा के गतित्रय का तात्पर्य है अक्षरात्मा की प्राप्ति, ऐश्वर्यप्राप्ति और भगवत्प्राप्ति। इन तीनों की प्राप्ति भगवच्छरणागति से ही सम्भव है। भगवान् की माया से मुक्त होने के लिये भगवान् की शरण में जाना युक्तिसंगत ही है। यह विषय पहले प्रतिपादित है कि तादृश माया एवं माया के गुणों से अतीत हो जाने का उपाय एकान्ततः भगवान् की प्रपत्ति ही है और उसके बाद परब्रह्म परमात्मा अनुभव करते रहना भी गुणत्रयातीत होने का उपाय है।

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति' इत्याद्युक्तगतित्रयविवक्षायां तु सङ्ग्रहक्रमभङ्गः स्यात्। यहाँ यह शंका करते हैं कि मूलश्लोकोक्त गतित्रय शब्द से ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ इस श्लोक के अनुसार ऊपर जाने वाले सात्त्विक, मध्य में रहने वाले

**अचिन्मिश्राद्विशुद्धाच्च चेतनात् पुरुषोत्तमः।**

**व्यापनाद्भरणात्स्वाम्यादन्यः पञ्चदशोदितः॥१९॥**

अत्र 'अचिन्मिश्राद्विशुद्धाच्च' इत्यस्य सूचनीयां सङ्गतिं विवृण्वन् क्षराक्षरशब्दव्याख्यानतां व्यनक्ति- 'क्षेत्राध्याये क्षेत्रक्षेत्रज्ञभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं विशोध्य विशुद्धस्यापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारस्यैव पुरुषस्य प्राकृतगुणसङ्गप्रवाहनिमित्तो देवाद्याकारपरिणतप्रकृतिसम्बन्धोऽनादिरित्युक्तम्। अनन्तरे चाध्याये पुरुषस्य कार्यकारणोभयावस्थप्रकृतिसम्बन्धो गुणसङ्गमूलो भगवतैव कृत इत्युक्त्वा गुणसङ्गप्रकारं सविस्तरं प्रतिपाद्य गुणसङ्गनिवृत्तिपूर्वकात्मयाथात्म्यावाप्तिश्च भगवद्भक्तिमूलेत्युक्तम्। इदानीं भजनीयस्य भगवतः क्षराक्षरात्मकबद्धमुक्तविभूतिमतां विभूतिभूतात्क्षराक्षर-पुरुषद्वयान्निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतयात्यन्तोत्कर्षेण विसजातीयस्य भगवतः पुरुषोत्तमत्वं वक्तुमारभते' इति।

राजस और अधोगति प्राप्त करने वाले तामस- इन तीनों को क्यों न लिया जाय? इसका समाधान करते हुए रक्षाकार कहते हैं कि यदि तादृश त्रिविध गतियों को लिया जाय तो गीतार्थसंग्रह का क्रम भंग हो जायेगा, क्योंकि संग्रह के अनुसार अक्षरगति, ऐश्वर्यगति और भगवत्प्राप्तिरूप गति का क्रम है और चौदहवें अध्याय में पहले गुणबन्धविधा, उसके बाद गुणत्रय का कर्तृत्व, उसके बाद गुणत्रय के निवर्तन का प्रकार बताकर अन्त में गतित्रयस्वमूलत्व का वर्णन है॥१८॥

श्लोकार्थः- अचिन्मिश्रात्=अचित् जड़ से मिश्र चेतन, च=और विशुद्धात् चेतनात्=विशुद्ध चेतन से, पुरुषोत्तमः=पुरुषोत्तम भगवान्, व्यापनात्=उनमें व्याप्त होने के कारण, भरणात्=उनका भरण करने कारण, और, स्वाम्यात्=उनके स्वामी होने के कारण, अन्यः=उससे भिन्न (और श्रेष्ठ) हैं, यह बात, पञ्चदशोदितः=पन्द्रहवें अध्याय में बतायी गयी है।

यहाँ पर जो प्रकार के चेतनों की चर्चा की गयी- अचिन्मिश्र जीव और विशुद्ध जीव। जो पूर्णतया संसारी जीव है, वह देह को आत्मा मानता है और संसार में ही मग्न है, जिन्हें क्षर भी कहा जाता है। विशुद्ध चेतन उसे कहते हैं जो अपने से देह से भिन्न मानते हुये मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो चुका है या मुक्त हो चुका है,

अत्र व्यापनभरणस्वाम्यानि- 'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः (गीता-१५.१७) इति प्रतिपादितानि। एवं प्राधान्यतश्चिद-चिदीश्वररूपतत्त्वत्रयविशोधनं क्रमादध्यायत्रयेण कृतमित्यनुसन्धेयम्॥१९॥

जिन्हें अक्षर भी कहा जाता है। तादृश दोनों प्रकार के चेतनों से परमात्मा भिन्न व श्रेष्ठ हैं। उनकी भिन्नता व श्रेष्ठता के लिये तीन हेतु दिये गये हैं- व्यापनात्, भरणात् और स्वाम्यात्। परमात्मा उन सभी जीवों में व्याप्त हैं, परमात्मा उन सबों का भरण करते हैं और परमात्मा उन सबों के शेषी (स्वामी) हैं। तादृश परमात्मा का वर्णन पन्द्रहवें अध्याय में किया गया है।

अत्र अचिन्मिश्राद्विशुद्धाच्च। संग्रहोक्त अचिन्मिश्राद्विशुद्धाच्च शब्दों से सूचनीय संगति की व्याख्या करते हुये क्षर और अक्षर शब्दों से वाच्य पदार्थ की व्याख्या का स्पष्टीकरण भगवान् भाष्यकार ने किया है। जैसे कि 'तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का स्पष्टीकरण करके यह कहा गया कि वह एक मात्र अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप ही है, उस विशुद्ध स्वरूप आत्मा का प्राकृत गुणों के संग के प्रवाह के कारण देव, मनुष्य आदि के आकार में परिणत होता है, उसका कारण प्रकृति से सम्बन्ध हैं। इस तरह प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध अनादि है।

अनन्तरेऽध्याये। इसके बाद चौदहवें अध्याय में कार्य और कारण दोनों अवस्थाओं में स्थित प्रकृति के साथ पुरुष का गुणसंग के कारण ही सम्बन्ध भगवान् के द्वारा ही कराया हुआ है। यह कहने के बाद गुणों के संग का प्रकार विस्तारपूर्वक बतलाकर यह बात कही है कि गुणों के संग की निवृत्तिपूर्वक आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति भी भगवान् की ही भक्ति से होती है, अन्य से नहीं।

इदानीं भजनीयस्य। अब इस पन्द्रहवें अध्याय में 'क्षर और अक्षर के रूप में विद्यमान बद्ध और मुक्त जीव जिन भगवान् की विभूतियाँ हैं और भजन करने योग्य भगवान् अखिल त्याज्य गुणों के विरोधी होते हुये केवल कल्याणमय गुणों से युक्त होने के कारण अपनी विभूतिभूत क्षर और अक्षर इन दोनों से अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, अत एव इन दोनों से विलक्षण भी हैं, ऐसे भगवान् के पुरुषोत्तमत्व का वर्णन आरम्भ किया जा रहा है' इत्यादि। इस तरह क्षर (अचिन्मिश्र जीव) और अक्षर (विशुद्ध जीव) से परमात्मा को भिन्न सिद्ध करके परमात्मा की श्रेष्ठता में जो तीन हेतु दिये गये हैं, उनका निरूपण करते हैं-

## देवासुरविभागोक्तिपूर्विका शास्त्रवश्यता। तत्त्वानुष्ठानविज्ञानस्थेप्ने षोडश उच्यते॥२०॥

अत्र पूर्वोत्तरसमस्तप्रतिष्ठापकः षोडशाध्यायार्थः सङ्गृह्यते। एतदभिप्रायेण भाष्यम्- 'अनन्तरमुक्तस्य तु कृत्स्नस्यार्थस्य स्थेप्ने शास्त्रवश्यत्वं वक्तुं शास्त्रवश्यतद्विपरीतयोर्देवासुरसर्गयोर्विभागं श्रीभगवानुवाच' इति। अत एव सप्तदशमवतारयन्त्रेवमन्वभाषत- 'देवासुर-विभागोक्तिमुखेन प्राप्यतत्त्वज्ञानं तत्प्राप्त्युपायज्ञानं च वेदैकमूलमित्युक्तम्' इति। अत्र शास्त्रवश्यता- 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि'॥ इत्यध्यायान्तिम-श्लोकेनोक्ता॥२०॥

.....  
अत्र व्यापनभरणस्वाम्यानि। संग्रहश्लोकोक्त व्यापन, भरण और स्वाम्य का प्रतिपादन गीता के पन्द्रहवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक से प्रतिपादित किया गया है। जैसा कि वहाँ पर कहा गया है- 'जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में स्वयं प्रवेश करके उन्हें धारण करता है, वह ही पुरुषोत्तम है। इस तरह तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायों से प्रधानरूप से क्रमशः चित् (जीव), अचित् (जड़) और ईश्वर (परमात्मा) रूप तत्त्वत्रय का स्पष्टीकरण किया गया है' इस बात का अनुसन्धान करना चाहिये॥१९॥

श्लोकार्थः- षोडशे=सोहलवें अध्याय में, देवासुर-विभाग-उक्ति-पूर्विका=देव और असुरों का विभाग पूर्वक, शास्त्रवश्यता=उनकी शास्त्रवश्यता की उक्ति, एवं (पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित) तत्त्व-अनुष्ठान-विज्ञान-स्थेप्ने=तत्त्व का अनुष्ठान और उस ज्ञान की दृढ़ता की, उच्यते=चर्चा की गयी है।

इस अध्याय में सर्वप्रथम देव और असुरों का विभाग अर्थात् दैवी सम्पत् और आसुरी सम्पत् का कथन किया गया है और यह भी बताया गया है कि ये सभी शास्त्रों के अधीन हैं। उसके बाद जो पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम तत्त्व बताया गया था, उसका अनुष्ठान, उसका विज्ञान और उन दोनों की स्थिरता के विषय में वर्णन किया गया है।

अत्र पूर्वोत्तरसमस्तप्रतिष्ठापकः। गीतार्थसंग्रह के इस श्लोक से पूर्व एवं उत्तर अध्यायों में कही हुयी बात को प्रतिष्ठापित करने वाले विषय के रूप



## अशास्त्रमासुरं कृत्स्नं शास्त्रीयं गुणतः पृथक्। लक्षणं शास्त्रसिद्धस्य त्रिधा सप्तदशोदितम्॥२१॥

अत्र भाष्यम्- 'इदानीमशास्त्रविहितस्यासुरत्वेन अफलत्वम्, शास्त्रविहितस्य गुणतस्त्रैविध्यम्, शास्त्रसिद्धस्य लक्षणं चोच्यते' इति। शास्त्रं यस्य विधायकत्वेन नास्ति, तदशास्त्रमित्यभिप्रायेण- 'अशास्त्रविहितस्य' इत्युक्तम्। ॐ तत्सदिति शास्त्रसिद्धस्य त्रिविधं लक्षणमुक्तम्॥२१॥

.....  
सोलहवें अध्याय का सारसंग्रह किया गया है। इसी अभिप्राय से उक्त अध्यायारम्भ का भाष्य भाष्यकार ने इस प्रकार लिखा है-

अनन्तरमुक्तस्य। 'अभी-अभी पन्द्रहवें अध्याय में कहे हुये अभिप्राय को दृढ़ करने के लिये शास्त्र की वश्यता=अनुकूलता आवश्यक है, यह बतलाने के लिये क्रमशः शास्त्र के अनुकूल बरतने वाले और उससे विपरीत आचरण करने वाले दैव और आसुर सृष्टि का विभाग श्री भगवान् बतला रहे हैं' इत्यादि। अत एव सत्रहवें अध्याय की अवतरणिका में भाष्यकार ने कहा कि देव और असुरों के विभाग का वर्णन करते हुये यह कहा गया कि प्राप्त करने योग्य तत्त्व का स्वरूप ज्ञान और उसकी प्राप्ति के उपाय का ज्ञान एकमात्र वेदैकमूल है अर्थात् केवल वेद से ही हो सकता है। इससे यही सिद्ध होता कि सोलहवाँ अध्याय दैवासुरसम्पद्विभागात्मक है।

संग्रहश्लोकोक्त शास्त्रवश्यता का तात्पर्य सोलहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक से बताया गया है। वह इस तरह है- 'हे अर्जुन! कार्य और अकार्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं, अतः तुम्हें यहाँ शास्त्रविधान में कहे हुये तत्त्व को समझकर कर्म करना चाहिये' इत्यादि। जो जीव शास्त्रीय व्यवस्थानुसार चलते हैं, वे शास्त्रवश्य हैं और शास्त्रवश्यकर्म सार्थक होते हैं॥२१॥

श्लोकार्थः- सप्तदशोदितम्=सत्रहवें अध्याय में यह बताया गया है कि, कृत्स्नम् आसुरम्=असुर-सम्बन्धी सभी कर्म, अशास्त्रम्=अशास्त्रीय हैं, और शास्त्रीयम्=शास्त्रोक्त सभी कर्म, गुणतः पृथक्=तीन गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक् हैं तथा शास्त्रसिद्धस्य लक्षणम्=शास्त्रसिद्ध कर्मों का लक्षण, त्रिधा=तीन प्रकार का है।

## ईश्वरे कर्तृताबुद्धिः सत्त्वोपादेयतान्तिमे। स्वकर्मपरिणामश्च शास्त्रसारार्थ उच्यते॥२२॥

.....  
पूर्वाध्याय में शास्त्रीय कर्म और जीवों का शास्त्रवश्यता का प्रतिपादन कर अब आसुर (असुर-सम्बन्धी) कर्मों को अशास्त्रीय बता जा रहा है तथा शास्त्रीय कर्म भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद तीन प्रकार के होते हैं, ऐसा विवेचन सत्रहवें अध्याय में किया गया है।

अत्र भाष्यम्। इस संग्रहोक्त श्लोक के विषय में गीता के उक्त सत्रहवें के अध्याय के अवतरणिकाभाष्य में यह कहा गया है कि 'शास्त्रविधि से रहित जो यज्ञादि कर्म हैं, वे आसुर कर्म होने के कारण निष्फल हैं और शास्त्रविहित यज्ञादि गुणों के भेद से सात्त्विक, राजस और तामस के रूप में तीन प्रकार के होते हैं, साथ ही शास्त्रसिद्ध यज्ञादि के लक्षण भी बतलाये जाते हैं' इत्यादि। भाष्यकार ने इस तरह प्रकृत संग्रहश्लोक की ही व्याख्या की है। जिनके लिये शास्त्र विधायक (विधान करने वाले, उपदेशक) नहीं हैं, अर्थात् जो अपने को शास्त्राधीन नहीं मानता है, उसे अशास्त्रीय के अभिप्राय से अशास्त्रविहितस्य कहा गया है। तेइसवें श्लोक में ॐ तत् सत् ऐसा तीन प्रकार का शास्त्रसिद्ध लक्षण भी बतलाया गया है। इस श्लोक का अभिप्राय है कि 'ॐ तत् सत्' ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म (वेद) का निर्देश बतलाया गया है। उसीसे सर्वप्रथम ब्राह्मण, वेद और यज्ञों रचना की गयी है॥२१॥

श्लोकार्थः- अन्तिमे=अन्तिम अर्थात् अठारहवें अध्याय में, ईश्वरे कर्तृताबुद्धिः= ईश्वर में कर्तृत्व की बुद्धि, सत्त्व-उपादेयता=सत्त्वगुण की उपादेयता (ग्राह्यता) च=और स्वकर्मपरिणामः=स्वकर्म के परिणामों के विषय में बताकर, अन्ततः, शास्त्रसार-अर्थः=गीताशास्त्र का सारभूत (भक्तियोग एवं शरणागति) का, उच्यते=वर्णन किया गया है।

अठारहवें अध्याय में मुख्यतया चार विषयों में प्रकाश डाला गया है-

१. जो पहले कहा गया था कि साधक को अपने में कर्तापन नहीं रखना चाहिये अपितु प्रकृति के गुणों में कर्तृत्व का आरोप कर देना चाहिये, अब यहाँ यह बता जा रहा है कि प्रकृति भी ईश्वर के अधीन संचालित होती है, अतः कर्तृत्व परमात्मा में ही निक्षेप कर देना चाहिये।

तदेतत्पूर्वाध्यायसङ्गतिप्रदर्शनपूर्वकं व्याचष्टे- 'अतीतेनाध्यायद्वयेनाभ्युदयनिश्श्रेयससाधनभूतं वैदिकमेव यज्ञतपोदानादिकं कर्म; नान्यत्, वैदिकस्य कर्मणः सामान्यलक्षणं प्रणवान्वयः। तत्र मोक्षाभ्युदयसाधनयोर्भेदस्तत्सच्छब्दनिर्देश्यत्वेन; मोक्षसाधनं च कर्म फलाभिसन्धिरहितं यज्ञादिकम्, तदारम्भः सत्त्वोद्रेकाद्भवति; सत्त्वोद्रेकश्च सात्त्विकाहारसेवनेनेत्युक्तम्। अनन्तरं मोक्षसाधनतया निर्दिष्टयोस्त्यागसंन्यासयोरैक्यम्, त्यागस्य स्वरूपं भगवति सर्वेश्वरे सर्वकर्मणां कर्तृत्वानुसन्धानं सत्त्वरजस्तमसां कार्यवर्णनेन सत्त्वगुणस्योपादेयत्वं, स्ववर्णोचितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनभूतानां परमपुरुषप्राप्तिनिर्वर्तनप्रकारः, कृत्स्नस्य च गीताशास्त्रस्य सारार्थो भक्तियोग इत्येते प्रतिपाद्यन्ते' इति।

२. सत्त्वगुण ही उपादेय (ग्राह्य) है, अतः उसकी पहचान के लिये सात्त्विक, राजस और तामस तीनों का विवेचन किया गया है।

३. जो कुछ भी जीव को भोग के रूप में प्राप्त है, उसका कारण उसके कर्म ही हैं और सब कुछ कर्मों का ही परिणाम है।

४. अन्ततः मोक्ष का उपाय भक्तियोग व शरणागति है।

**तदेतत्पूर्वाध्यायः०।** इस संग्रहोक्त श्लोक की भाष्यकार ने अठारहें अध्याय के आरम्भ में पूर्वाध्यायों की संगति दिखाते हुये इस प्रकार व्याख्या की है- 'इससे पिछले सोलहवें और सत्रहवें अध्यायों में यह बतलाया गया कि लौकिक अभ्युन्नति और परमकल्याण रूप निःश्रेयस् (मोक्ष) इन दोनों के साधन वैदिक यज्ञ, तप और दान आदि कर्म ही हैं, अन्य कुछ नहीं। उस वैदिक कर्म का सामान्य लक्षण प्रणव (ओङ्कार, ॐ) से सम्बन्ध रखता है, उनमें यह भेद है कि वे यज्ञादि कर्म यदि तत् और सत् शब्द से वर्णन करने योग्य और उनसे सम्बन्धित होते हैं तो मोक्ष के साधन होते हैं और यदि उनसे वर्णन करने योग्य नहीं होते तो सांसारिक उन्नति के लिये साधन होते हैं। अतः जो फल की इच्छा से रहित यज्ञ आदि कर्म हैं, वे ही मोक्ष के साधन हैं। उन फलसंग रहित यज्ञादि का आरम्भ सत्त्वगुण की वृद्धि से होता है और सत्त्वगुण की वृद्धि सात्त्विक आहार के सेवन से होता है। अनन्तरं मोक्षसाधनतया- अब इसके बाद मोक्ष के साधन के रूप में बतलाये हुये त्याग और संन्यास की एकता है अर्थात् त्याग और संन्यास

अत्र त्यागसंन्यासशब्दावेकार्थाविति भगवदुक्तेनोत्तरेण ख्यापितं भाष्ये। सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसन्धानं च 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' (गीता-१८.१४) इत्यत्रैव दर्शितम्। अत्र कर्महेतुकलापे दैवं पञ्चमम्। परमात्मान्तर्यामी कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतुरित्यर्थः। उक्तं हि- 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (गीता-१५.१५) इति। वक्ष्यति च- 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।' (गीता-१८.६१) इति।

का समान अर्थ, एक ही तात्पर्य है। इस तरह त्याग और संन्यास के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है। इसके बाद भगवान् सर्वेश्वर श्रीमन्नारायण में समस्त कर्मों के कर्तापन का अनुसन्धान करना चाहिये। इस विषय को बतलाकर फिर सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों के कार्यों का वर्णन करके सत्त्वगुण को निश्चित रूप से उपादेय (ग्राह्य) बतलाया गया है। साथ ही परमपुरुष की आराधना रूप स्ववर्णोचित कर्म जिस प्रकार से परमपुरुष की प्राप्ति कराने वाले होते हैं, उस प्रकार का एवं सम्पूर्ण गीताशास्त्र के सार सिद्धान्त भक्तियोग भी प्रतिपादित किया जा रहा है' इत्यादि।

अष्टादशाध्याय की इस अवतरणिका भाष्य से ही गीतार्थसंग्रह का प्रकृत श्लोक व्याख्यात हो जाता है।

**अत्र त्यागसंन्यासशब्दौ।** इस अध्याय में त्याग और संन्यास ये दोनों शब्द एकार्थक (समानार्थक, पर्यायवाची) हैं, यह बात भगवान् के द्वारा प्रदत्त उत्तर से भाष्य में दिखा दिया गया है। जैसे कि भगवान् ने (१८.२) में कहा है कि कविलोग काम्य कर्मों को त्याग को संन्यास समझते हैं और विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फलत्याग को त्याग कहते हैं। इसीकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार स्वामी जी कहते हैं- कितने ही विद्वान् काम्य कर्मों के न्यास को अर्थात् स्वरूपतः त्याग को ही संन्यास कहते हैं। कितने ही विचक्षण पुरुष यह कहते हैं कि मोक्षशास्त्र में त्याग शब्द का अर्थ नित्य, नैमित्तिक और काम्य- इन सब कर्मों के फल का त्याग ही है। यहाँ शास्त्रीय त्याग काम्य कर्मों को स्वरूपतः त्याग कर देना है, या समस्त कर्मों के फल का त्याग है, यह विवाद दिखलाते हुए भगवान् ने एक जगह संन्यास शब्द का और दूसरी जगह त्याग शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह समझ में आता है कि भगवान् ने संन्यास और त्याग शब्द का एक ही अर्थ स्वीकार किया

.....  
है। तथा निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम (१८.४) इस श्लोक से त्याग शब्द से ही उसका निर्णय करने की बात कही है। इसी लिये और नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ अर्थात् शास्त्रनियत कर्म का त्याग नहीं बन सकता, अतः उसका मोह से त्याग करना तामस त्याग कहलाता है। (१८.७) कहकर पुनः अनिष्टमिष्टं मित्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ अर्थात् इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित- तीन प्रकार का कर्मफल अत्यागियों को पीछे से मिलता है, परन्तु त्यागियों को कभी नहीं मिलता॥ (१८.१२) इस प्रकार दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय के रूप में देखे जाते हैं, इस लिये दोनों की एकार्थता की प्रतीति निश्चित होती है।

सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसन्धानं च 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' इत्यत्रैव दर्शितम्। अत्र कर्महेतुकलापे दैवं पञ्चमम्। परमात्मान्तर्यामी कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतुरित्यर्थः। परमात्मा के अतिरिक्त सभी वस्तुएँ निष्पाद्य होने के कारण कार्य कहलाती हैं। यद्यपि प्रत्यगात्मा जीव की उत्पत्ति नहीं होती तथापि प्रलयकाल में परमात्मा में लीन हो जाना और सृष्टिकाल में परमात्मा से ही निकलकर नाम, रूप को प्राप्त होना आदि कारणों से उसे निष्पाद्य कार्य कहा जाता है। अचित् पदार्थ तो पूर्णतया निष्पाद्य कार्य हैं ही। अतः 'जो जो भी कार्य वस्तु है, उसका कर्ता परमात्मा ही है' इस तरह सर्वकर्तृत्व परमात्मा में ही होने का अनुसन्धान करना चाहिये। यद्यपि जीवात्मा में भी यत्किञ्चित् कर्तृत्व देखा जाता है, जैसे सन्तानोत्पत्ति में माता-पिता का कर्तृत्व, यज्ञादि में यजमान का कर्तृत्व, गृहादि के निर्माण में मनुष्य का कर्तृत्व आदि, तथापि वह कर्तृत्व जीवात्मा का स्वतन्त्र नहीं है अपितु परमात्मा के अधीन है, परमात्मा द्वारा प्रदत्त शक्ति के आधार पर वह कर्ता जैसा बनता है। अतः सर्वकर्तृत्व परमात्मा में ही निहित है, ऐसा अनुसन्धान करना चाहिये। परमात्मा में ही सर्वकर्तृत्व है, इस बात को अठारहवें अध्याय के चौदहवें श्लोक के 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' आदि से यह बताया गया है कि इन कर्मकारणों की गणना में दैव पाँचवाँ कारण है। तात्पर्य यह है कि अन्तर्यामी परमात्मा कर्मनिष्पत्ति में प्रधान कारण है।

उक्तं हि- 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (गीता.१५.१५) इति। गीता में ही उक्त श्लोक से कहा भी गया है कि 'मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है, सब वेदों

परमात्मायत्तं च जीवात्मनः कर्तृत्वम्, 'परात् तच्छ्रुतेः' (ब्र.सू. २.३.४०) इति प्रतिपादितम्। नन्वेवं परमात्मायत्ते जीवात्मनः कर्तृत्वे जीवात्मा कर्मण्यनियोज्यो भवतीति विधनिषेधशास्त्राण्यनर्थकानि स्युः? इदमपि चोद्यं सूत्रकारेण परिहृतम् 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित-प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्र.सू. २.३.४१) इति।

.....  
से मैं ही जानने योग्य हूँ और मैं ही वेदान्त का अर्थात् वेदोक्त कर्मफल का कर्ता और वेद का जानने वाला हूँ' इत्यादि। इससे भी सिद्ध होता है कि सर्वकर्तृत्व परमात्मा में ही निहित है और हमें अपने में कर्तृत्वबुद्धि का त्याग करके परमात्मा में सर्वकर्तृत्व बुद्धि रखनी चाहिये अर्थात् तादृश अनुष्ठान करना चाहिये।

वक्ष्यति च- 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।' (गीता.१८.६१) इति। आगे भी अठारहवें अध्याय के इकसठवें श्लोक से कहेंगे कि 'हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय-देश में स्थित हैं और यन्त्रारूढ सभी प्राणियों को अपनी माया से घुमा रहा है' इत्यादि। इस कथन से भी सिद्ध होता है कि सर्वकर्तृत्व ईश्वर में ही निहित है। ईश्वर में विद्यमान कर्तृत्व का जब जीव अपने में आरोपित करता है तभी वह कर्मबन्धनों से बँध जाता है और सर्वकर्तृत्व ईश्वर में निक्षेप करता है, तो वह अपने द्वारा किये जा रहे कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता अपितु कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। कर्मबन्धनों से छूट जाना ही मोक्ष है।

परमात्मायत्तं च जीवात्मनः कर्तृत्वम्। जीवात्माओं में दिखा जाने वाला यत्किञ्चित् कर्तापन भी परमात्मा के अधीन ही है, यह बात ब्रह्मसूत्र के परात् तच्छ्रुतेः (ब्र.सूत्र. २.३.४०) से प्रतिपादित की गयी है। वहाँ पर कहा गया है कि उपर्युक्त जीवात्मगत कर्तृत्व स्वतन्त्र नहीं है, अपितु सबके नियन्ता परमात्मा के कारण है, अर्थात् जीव का कर्तृत्व परमात्माधीन है, पूर्णतया स्वाधीन नहीं है, क्योंकि श्रुति के द्वारा ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है। अब प्रश्न होता है कि यदि जीवात्मा में विद्यमान यत्किञ्चित् कर्तापन भी परमात्मा के अधीन हैं अर्थात् भगवान् ही सब कुछ करते-कराते हैं, जीव स्वयं कर्म में नियोज्य नहीं होता अपितु परमात्मा द्वारा नियोज्य है तो ऐसी स्थिति में सत्कार्यों का विधान करने वाले और असत्कार्यों का निषेध करने वाले सभी शास्त्र व्यर्थ ही हो जायेंगे न? इस प्रश्न का समाधान भी सूत्रकार ने कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः

एतदुक्तं भवति- परमात्मना दत्तैस्तदाधारैश्च करणकलेवरा-  
दिभिस्तदाहितशक्तिभिः स्वयं च जीवात्मा तदाधारस्तदाहितशक्तिः सन्  
कर्मनिष्पत्तये स्वेच्छया करणाद्यधिष्ठानाकारं प्रयत्नं चारभते। तदन्तरवस्थितः  
परमात्मा स्वानुमतिदानेन तं प्रवर्तयतीति जीवस्यापि स्वबुद्ध्यैव  
प्रवृत्तिहेतुत्वमस्ति; यथा गुरुतरशिलामहीरुहादिचलनादिफलप्रवृत्तिषु  
बहुपुरुषसाध्यासु बहूनां हेतुत्वं विधिनिषेधभाक्त्वं च' इति।

.....  
( ब्र.सू.२.३.४१ ) से ही दिया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि 'परः=परमात्मा,  
कृतप्रयत्नापेक्षः तु=जीवात्मा के द्वारा किये जाने वाले प्रयत्न को प्रथम-प्रवृत्तिहेतु  
मानकर और उसके द्वारा किये जाने वाले उद्योग को निमित्त के रूप में निरीक्षमाण  
करता हुआ, तत्तत् कर्मों में जीवों को प्रवृत्त कराता है, क्योंकि ऐसा न मानने पर  
विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः=शास्त्रों के द्वारा की गयी विधि और निषेध व्यर्थ  
हो जायेंगे, तथा भगवान् के द्वारा किये जाने वाले निग्रह और अनुग्रह भी व्यर्थ पड़  
जायेंगे' इत्यादि। इस तरह जीव की इच्छा और प्रयत्न के आधार पर परमात्मा उससे  
कार्य करवाता है। तात्पर्य यह है कि सब कुछ परमात्मा के अधीन होते हुये भी  
परमात्मा ने जीवात्मा को इच्छा करने और प्रयत्न करने में स्वतन्त्रता दे रखी है।

एतदुक्तं भवति। इन सब कथनों का सार यह निकलता है कि परमात्मा  
के द्वारा प्रदत्त और परमात्मा के अधीन में चलने वाले करण=इन्द्रियादि साधन और  
कलेवर=शरीर जो परमात्मा के द्वारा स्थापित शक्ति वाले हैं, के द्वारा स्वयं जीवात्मा  
भी परमात्मा को ही आधार बनाकर और उनसे ही शक्तिलेश प्राप्त कर कर्मों की  
सिद्धि के लिये अपने इन्द्रिय, शरीर आदि के अनुरूप प्रयत्न करता है। इस तरह  
जीवात्मा अपनी रुचि के अनुकूल इच्छा और प्रयत्न स्वतन्त्र होकर करता है।  
उसकी रुचि के अनुकूल ही उस जीवात्मा के अन्दर विराजमान परमात्मा उसे  
अपनी अनुमति प्रदान करके उसे तत्तत् कार्यों में लगाते हैं। इस तरह सब कुछ  
परमात्मायत्त होने पर भी जीवात्मा की अपनी बुद्धि के अनुसार कार्यों में प्रवृत्ति के  
लिये यत्किञ्चित् हेतुता होती ही है। जिस तरह बहुत लोगों के द्वारा सम्पन्न होने  
वाले बड़ी शिला, बहुत बड़े वृक्ष आदि के संचालन में प्रत्येक पुरुष का यत्किञ्चित्  
कर्तृत्व के साथ तदनुकूल फलप्रवृत्ति में विधि और निषेध के भाजन वे सब बनते  
हैं। इस तरह सब कुछ परमात्माधीन होते हुये भी जीवात्मा को भगवान् ने इच्छा  
और प्रयत्न करने के लिये यत्किञ्चित् स्वतन्त्रता दे रखी है। अतः जीवात्मा की

तत्र शास्त्रसारार्थः 'सर्वगुह्यतमम्' (१८.६४) इत्यादिना सादरं सम्मुखीकृत्य 'मन्मना भव मद्भक्तः' (१८.६५), 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' (१८.६६) इति श्लोकद्वयेन शिष्टः। चरमश्लोकार्थश्च तात्पर्यचन्द्रिकायां निक्षेपरक्षायां चास्माभिर्यथाभाष्यं यथासम्प्रदायं च समस्तपरपक्षप्रतिक्षेप-पूर्वकमुपपादितः।

इच्छा और प्रयत्न के अनुकूल ही भगवान् उसे तत्तत् कार्यों में प्रवृत्त कराते हैं। यहाँ तक संग्रहोक्त श्लोक के ईश्वरे कर्तृताबुद्धिः, सत्त्वस्य उपादेयता और स्वकर्मपरिणामः का विस्तृत विवेचन किया गया। अब अगले परिच्छेद से शास्त्रसारार्थः का विवेचन करते हैं। गीता के अन्तिम अध्याय में गीताशास्त्र का पूरा सार बताया गया है।

तत्र शास्त्रसारार्थः। संग्रहश्लोकोक्त शास्त्रसारार्थ-शब्द का विवेचन कर रहे हैं। उक्त शब्द का विवेचन इस तरह से किया है। पहले अपनी ओर अर्जुन को पूर्णतया आकृष्ट करने के लिये भगवान् ने गीता के सर्वगुह्यतमम् (१८.६४) श्लोक का उपदेश किया है। इस श्लोक में कहा गया है कि हे अर्जुन! तुम मेरा समस्त गुह्यों में गुह्यतम श्रेष्ठ वचन फिर से सुनो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। इस लिये मैं तुम्हारे हित की बात कहूँगा। इसके बाद दो श्लोक मन्मना भव मद्भक्तः (१८.६५) और सर्वधर्मान् परित्यज्य० (१८.६६) श्लोकों से गीताशास्त्र का सार उधेड़ दिया है। वेदान्तदेशिक स्वामी जी कहते हैं कि उक्त चरमश्लोक (चरममन्त्र) का विशेष अर्थ मेरे (वेदान्तदेशिक) के द्वारा विरचित तात्पर्यचन्द्रिका और निक्षेपरक्षा नामक व्याख्याओं में भगवान् श्री रामानुजाचार्य के गीताभाष्य के अनुरूप अपने सम्प्रदाय के अनुकूल समस्त परपक्षों का निराकरण करते हुये प्रातिपादित किया है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य इस अन्तिम उपदेश का भाष्यकार ने इस प्रकार वर्णन किया है- परम कल्याण की प्राप्ति के साधनभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग रूपी सभी धर्मों को मेरी आराधना के रूप में अत्यन्त प्रेम से अपने अधिकारानुसार करते रहो, और उन्हें करते-करते ही मेरी बतलायी रीति से फल, कर्म और कर्तृत्व के त्याग के द्वारा सबका परित्याग करके मुझ को ही आराध्यदेव, सबका कर्ता और प्राप्त होने योग्य समझते रहो तथा उस प्राप्ति का उपाय भी मुझे ही समझो। यही सभी धर्मों का शास्त्रीय परित्याग है। इस तरह बर्तते हुए तुम भक्त



तत्रायमस्मदीयसङ्ग्रहः-

‘सुदुष्करेण शोचेद्यो येन येनेष्टहेतुना।

स स तस्याहमेवेति चरमश्लोकसङ्ग्रहः’॥ इति।

सारार्थो भक्तियोग इति भाष्ये त्वङ्गाधिकारे प्रपत्तिं प्रत्यपि भक्तेरङ्गित्वेन प्राधान्यात्॥२२॥

**कर्मयोगस्तपस्तीर्थदानयज्ञादिसेवनम्।**

**ज्ञानयोगो जितस्वान्तैः परिशुद्धात्मनि स्थितिः॥२३॥**

.....  
को मैं अपनी प्राप्ति के विरोधी जो अकर्तव्यता का करना और कर्तव्य का न करना रूप अनादिकाल से संचित अनन्त पाप हैं, उन समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो। गीता का यह अन्तिम और सारतम उपदेश है। इस पर तात्पर्यचन्द्रिका में श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी जी ने विस्तृत रूप में लिखा है।

**तत्रायमस्मदीयसङ्ग्रहः-** श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी जी कहते हैं कि उक्त ग्रन्थ में हमारे द्वारा किया गया चरमश्लोक का सारसंग्रह इस प्रकार है- जो अत्यन्त कठिन से कठिन चिन्तन करके जिस-जिस इष्ट हेतु से जिसे जानता है, उसके लिये वह चिन्तनीय विषय मैं ही हूँ, यह चरमश्लोक का सार है। भाष्य में **सारार्थो भक्तियोगः** जो वाक्य है, उसका तात्पर्य यह है कि अङ्ग के विवेचन में प्रपत्ति अंग और भक्ति अंगी है, अर्थात् प्रपत्ति अंग है और भक्ति अंगी। अतः संग्रह के श्लोक में प्रपत्ति-शब्द का पाठ न करके प्रधानतया **भक्तियोगः** कहा गया है॥२२॥

इस तरह गीतार्थसंग्रह के प्रथम श्लोक से गीता का सार, द्वितीय श्लोक से प्रथम षट्क का सार, तृतीय श्लोक से मध्यम षट्क का सार और चतुर्थ श्लोक से अन्तिम षट्क का सार बताकर पाँचवें श्लोक से लेकर बाईसवें श्लोक तक एक-एक श्लोक से प्रत्येक अध्याय का सार बताया गया है। अब दस श्लोकों से कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि का विशेष रूप से विश्लेषण किया जा रहा है।

**श्लोकार्थः-** तपस्तीर्षदानयज्ञादिसेवनम्=तप, तीर्थसेवन, दान, यज्ञ का आचरण आदि करना, **कर्मयोगः**=यह कर्मयोग है। **ज्ञानयोगः**=ज्ञानयोग उसे कहते

अथ दशभिः श्लोकैः सुखग्रहणाय कर्मयोगज्ञानयोगभक्ति-  
योगादीनां स्वरूपादिकं विविनक्ति। तत्र कर्मयोगस्य लक्षणं पूर्वमेव  
दर्शितमिति कृत्वा तत्तदधिकारिणां ज्ञानशक्तियोग्यतानुगुण्येन यथाधिकारं  
परिग्रहार्थं च चतुर्थोक्तानवान्तरभेदाननुक्तानपि सर्वानादिशब्देन  
सङ्गृह्णन्नुदाहरति। आफलोदयं सादरं निरन्तरपरिग्रहोऽत्र सेवनम्। अथ  
तत्साध्यस्य ज्ञानयोगस्याधिकारिप्रदर्शनपूर्वकं लक्षणमाह। निरन्तरचिन्तन-  
रूपेणेति शेषः। तेन तत्फलतदुपायज्ञानाभ्यां व्यवच्छेदः॥२३॥

.....  
हैं जो- **जितस्वान्तैः**=अपने इन्द्रियों को जीत चुके साधकों द्वारा, **परिशुद्धात्मनि**=  
प्रकृतिवियुक्त परिशुद्ध आत्मा में निरन्तर चिन्तन करके हुए अवस्थित रहना। इस  
तरह कर्मयोग और ज्ञानयोग के संक्षेप में लक्षण बताये गये हैं।

**अथ दशभिः श्लोकैः।** प्रत्येक अध्यायों का सारसंग्रह करने के बाद  
अब शेष दस श्लोकों से कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि का सुखपूर्वक  
ज्ञान हो सके और उनका ग्रहण भी सरलता से हो, एतदर्थ उनके स्वरूप आदि  
का विवेचन किया जाता है। उसमें कर्मयोग का लक्षण पहले बताया जा चुका है,  
ऐसा देखकर उन कर्मयोगाधिकारियों में ज्ञान, शक्ति और योग्यता के अनुरूप  
जिनका जिसमें अधिकार बन गया है, उसके अनुसार ही ज्ञानयोगादि के परिग्रह  
के लिये चतुर्थ अध्याय में उक्त अवान्तर भेदों और अनुक्त सभी भेदों का भी इस  
श्लोक में **आदि** शब्द के द्वारा संग्रह करके उदाहरण दे रहे हैं।

**आफलोदयम्।** संग्रहोक्त **सेवन** शब्द का तात्पर्य है कि जब तक उसका  
फल नहीं मिलता तब तरह आदरपूर्वक निरन्तर चिन्तन में लगे रहना। इसके बाद  
अर्थात् कर्मयोग, तप, तीर्थसेवन, दान, यज्ञादि सेवन से साध्य **ज्ञानयोग** में उसके  
अधिकारी का प्रदर्शन करते हुये कहा कि **जितस्वान्तैः परिशुद्धात्मनि स्थितिः।**  
यहाँ 'निरन्तर चिन्तन रूप से' इतना भाग शेष है अर्थात् संग्रहश्लोक में कहा नहीं  
गया है, उसका भी यहाँ समावेश कर लेना चाहिये। इस तरह **जितस्वान्तैः**  
**निरन्तरचिन्तनरूपेण परिशुद्धात्मनि स्थितिः ज्ञानयोगः** (इन्द्रियों पर विजयप्राप्त  
किये हुये साधकों द्वारा निरन्तर चिन्तन रूप से विशुद्ध अक्षर आत्मा में अवस्थित  
रहना ज्ञानयोग कहलाता है) ऐसा लक्षण बन जाता है। ऐसा लक्षण करने से उसके  
फलज्ञान और उपायज्ञान से भिन्नता का प्रदर्शन हो जाता है अर्थात् फलज्ञान और

**भक्तियोगः परैकान्तप्रीत्या ध्यानादिषु स्थितिः।**

**त्रयाणामपि योगानां त्रिभिरन्योन्यसङ्गमः॥२४॥**

अथान्तरङ्गैः सह भक्तियोगं लक्षयति- परस्मिन् ब्रह्मण्येकान्तेन प्रीतिः परैकान्तप्रीतिः। तेन 'महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः' इति लक्षणं सूचितम्। 'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' इत्याद्यनुसारेण लक्ष्यस्वरूपं ध्यानशब्देनोक्तम्। आदिशब्देनार्चनप्रणामाद्यन्तरङ्गवर्गसङ्ग्रहः। उक्तञ्च वेदार्थसङ्ग्रहे- 'अशेषजगद्धितानुशासनश्रुतिनिकरशिरसि समधिगतोऽयमर्थः- जीवपरयाथात्म्यज्ञानपूर्वकवर्णाश्रमधर्मेतिकर्तव्यताकपरमपुरुषचरण- युगलध्यानार्चनप्रणामादिरत्यर्थप्रियस्तत्प्राप्तिफलः' इति।

.....  
उपायज्ञान ये दोनों ज्ञानयोग की कोटि में नहीं आते। परिशुद्ध आत्मा, विशुद्ध आत्मा, अक्षर इत्यादि पर्यायशब्द हैं। प्रकृतिसंसर्गरति गुणातीत आत्मा को विशुद्ध आत्मा कहते हैं॥२३॥

श्लोकार्थः- परैकान्तप्रीत्या=परब्रह्म में अनन्यता के साथ प्रीति द्वारा, ध्यानादिषु स्थितिः=ध्यान आदि में निश्चलता से स्थित होना ही, भक्तियोगः=भक्तियोग कहा गया है। त्रयाणामपि योगानाम्=कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इन तीनों योगों का, त्रिभिः अन्योन्यसङ्गमः=तीनों में परस्पर एक दूसरे से सङ्गम है।

अथान्तरङ्गैस्सह भक्तियोगं लक्षयति। अब अन्तरङ्ग विभागों के साथ भक्तियोग का लक्षण बता रहे हैं- परब्रह्म में एकान्ततया सर्वतोभावेन अनन्यतापूर्वक जो प्रीति होती है, उसे परैकान्तप्रीति कहते हैं। उससे महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः अर्थात् महनीय=अतिश्रेष्ठ के विषय में होने वाली प्रीति को भक्ति कहते हैं, यह सूचित होता है। भक्ति का यह लक्षण पहले भी बताया जा चुका है। भक्ति का दूसरा लक्षण यह भी है- स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते अर्थात् स्नेहपूर्वक निरन्तर ध्यान=चिन्तन को भक्ति कहते हैं। इस तरह लक्ष्य के स्वरूप को ध्यान-शब्द से कहा गया है। ध्यान-आदिषु में आदि-शब्द से भगवान् की अर्चना, पूजा, प्रणाम आदि अन्तरङ्गवर्ग का सङ्ग्रह समझना चाहिये। श्रीरामानुजाचार्य स्वामी जी द्वारा विरचित वेदार्थसङ्ग्रह में कहा भी गया है कि 'समस्त जगत् का हित

ननु कर्मयोगेऽप्यात्मज्ञानमाराध्य प्रीतिश्चानुवर्तते, ज्ञानयोगे-  
ऽप्यन्तःकरणशुद्ध्यर्थं नियतं कर्म न त्याज्यं, तदाराध्येश्वरभक्तिश्च। एवं  
भक्तियोगेऽपि तदितरानुवृत्तिः सिद्धा, अतो विभागानुपपत्तिरित्यत्राह-  
प्रधानभूते कस्मिंश्चित्क्षीरशर्करादिन्यायेन गुणतया इतरानुप्रवेशो न  
विभागभञ्जक इति भावः॥२४॥

**नित्यनैमित्तिकानां च पराराधनरूपिणाम्।  
आत्मदृष्टेस्त्रयोऽप्येते योगद्वारेण साधकाः॥२५॥**

.....  
करने के लिये प्रवृत्त वेदसमूह के शिरोभाग वेदान्त में यह अर्थ स्वीकार किया गया  
है कि जीव और परमात्मा के याथात्म्यज्ञानपूर्वक वर्णाश्रमधर्म की इतिकर्तव्यता से  
युक्त परमपुरुष भगवान् के चरणयुगल में ध्यान, अर्चन, प्रणाम आदि अतिशय प्रिय  
हैं और ये कर्म भगवत्प्राप्ति रूप फल देते हैं। इस तरह ध्यान, अर्चन, प्रणाम, भक्ति  
आदि ही भगवत्प्रीति के हेतु हैं और भगवत्प्रीति से ही भगवत्प्राप्ति होती है।

**ननु कर्मयोगेऽपि।** अब प्रश्न यह होता है कि कर्मयोग में आत्मज्ञान-साधना  
की प्रीति का अनुवर्तन होता है। अनुवर्तन का तात्पर्य है उसका बारम्बार आवृत्ति,  
स्मरण, ज्ञान आदि होते रहना। ज्ञानयोग में भी अन्तःकरण की शुद्धि के लिये  
शास्त्रोदित कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये और उन कर्मों से आराध्य ईश्वर की  
भक्ति भी करनी चाहिये। इस तरह भक्तियोग में उन दोनों कर्मयोग और भक्तियोग  
की अनुवृत्ति सिद्ध ही है। अतः तीनों में परस्पर अनुवृत्ति होने के कारण उन तीनों  
को अलग मानना अर्थात् उनका विभाग करना समुचित नहीं लगता। इसका क्या  
समाधान है? इसका उत्तर देते हुये कहते हैं- **प्रधानभूते** इत्यादि। अर्थात् जिस तरह  
दूध और शक्कर के सम्मिश्रण में उनका पृथक्करण सम्भव नहीं है किन्तु दूध में  
शक्कर होता है, न कि शक्कर में दूध। इसी तरह प्रधानभूत भक्तियोग में कर्मयोग  
और ज्ञानयोग के गौणतया (अप्रधानतया) अनुप्रवेश होने से वे भक्तियोग से पृथक्  
हैं, ऐसा सिद्ध नहीं होता है। वस्तुतः वह विभाग नहीं है, इस कथन में तात्पर्य  
है॥२४॥

**श्लोकार्थः-** पर-आराधनरूपिणाम्=परब्रह्म परमेश्वर की आराधना के  
रूप में, नित्यनैमित्तिकानां च=नित्य और नैमित्तिक कर्म भी, आत्मदृष्टेः=

नन्वेवं परैकान्तप्रीतिस्त्रिष्वपि समाना। ऐकान्त्यं चानन्यदेवता-  
कत्वपर्यन्तम्। यथोक्तं मोक्षधर्मे- 'ब्रह्माणं शितिकण्ठञ्च याश्चान्या  
देवताः स्मृताः। प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यस्मात् परिमितं फलम्॥' (महाभारते  
मोक्षपर्वणि-३५०.३६) इति। आश्वमेधिकेऽपि- 'अनन्यदेवता भक्ता ये  
मद्भक्तजनप्रियाः। मामेव शरणं प्राप्तास्ते मद्भक्ताः प्रकीर्तिताः॥' (महाभारते  
आश्वमेधिके-१०४.९१) इति। तपश्चाग्नीन्द्रादिनानादेवतासङ्कीर्णानां  
वर्णाश्रमधर्माणामैकान्त्यविरोधात् त्रिष्वपि योगेषु तत्परित्यागः प्राप्त इत्यत्राह-  
अन्योन्यसङ्गम इति।

.....  
आत्मसाक्षाकार की दृष्टि से, योगद्वारेण=योग (कर्मयोगादि) के द्वारा अर्थात्  
कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग त्रयः अपि एते साधकाः=ये तीनों ही साधक  
(सहायक) होते हैं।

नन्वेवं परैकान्तप्रीतिस्त्रिष्वपि समाना। अब एक प्रश्न उपस्थापित  
करने के लिये ननु शब्द से एक भूमिका बाँधते हैं कि परमपुरुष के प्रति  
ऐकान्तिक प्रीति कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इन तीनों में समान ही है।  
एकान्तता उसे कहते जो अन्यदेवताओं की भक्ति से भिन्न अनन्यरूप से परमात्मा  
को सर्वस्व माना जाय। जैसा कि महाभारत के मोक्षधर्मवर्णन के अवसर पर बताया  
गया है- प्रतिबुद्ध=ज्ञानी भक्तजन ब्रह्मा जी, शंकर जी एवं अन्य जो भी देवता कहे  
गये हैं, उनका भजन नहीं करते, क्योंकि उनकी सेवा से सीमित फल ही प्राप्त  
होता है। महाभारत के ही आश्वमेधिक पर्व में कहा गया है- जो अन्य देवों की  
उपासना नहीं करते अर्थात् केवल मेरी=भगवान् की उपासना करते हैं, जिनके लिये  
मेरे भक्त अतिशय प्रिय हैं और जो केवल मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं, वे ही  
मेरे भक्त कहे गये हैं। अग्नि, इन्द्र आदि नाना संकीर्ण देवताओं का तप और  
वर्णाश्रम धर्म के ऐकान्त्य विरोध के कारण कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग में  
अन्यदेवाराधना का त्याग अनिवार्य है। इस तरह अब यह प्रश्न बनता है कि तीनों  
में समानता ही विद्यमान है अर्थात् तीनों योगों में अनन्यता है तो कैसे इनको तीन  
भागों में विभाजित किया गया? इस प्रश्न पर संग्रहकार ने कहा- त्रिभिरन्योन्यसंगमः।  
अर्थात् तीनों में से प्रत्येक में अन्य-अन्य का संगम=मिश्रण है। कर्मयोग में ज्ञानयोग  
और भक्तियोग का अंश है तथा ज्ञानयोग में कर्मयोग और भक्तियोग का अंश है  
एवं भक्तियोग में कर्मयोग और ज्ञानयोग का अंश है किन्तु कर्मयोग में कर्मयोग

अत्र त्रिभिः सङ्गम इत्यर्थतो बुद्ध्या विभज्यान्वेतव्यम्।  
 अयमभिप्रायः- 'नियतस्य' (गीता-१८.७) 'यतः प्रवृत्तिः' (गीता-१८.४६) 'आचारप्रभवः' (महाभारते आनुशासनिके-२५४.१३९) 'वर्णाश्रमाचारवता' (विष्णुपुराणे-३.७.९) इत्यादिभिर्वर्णाश्रमधर्मेति-  
 कर्तव्यताकत्वसिद्धेः, अग्नीन्द्रादिशब्दानामपि प्रतर्दनविद्यान्यायेन तच्छरीरक-  
 परमात्मपर्यन्तत्वानुसन्धानात्, 'साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः' (ब्र.सू.१.२.२९)  
 इति न्यायेन यज्ञग्रहाध्यायोक्तप्रक्रियया च साक्षात्प्रतिपादकत्वेन वा  
 तत्तत्कर्मणामपि परमपुरुषाराधनत्वसम्भवात्, तदनुष्ठातुरनन्याराधकत्व-  
 सिद्धेरैकान्त्यं प्रतिष्ठितम्' इति। एतेन कर्मयोगेऽपि नित्यनैमित्तिकाना-  
 मितिकर्तव्यतात्वं सूचितम्।

.....  
 की प्रधानता है तो ज्ञानयोग में ज्ञानयोग की तथा भक्तियोग में भक्तियोग की।  
 विवेकी पुरुषों के द्वारा क्रियमाण तत्तत् योगों में नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानों में उक्त  
 भगवत्प्रीतिरूप तत्त्व का होना आवश्यक है।

अत्र त्रिभिः सङ्गमः। यद्यपि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग में  
 अन्योन्यसंगम (एक दूसरे में मिश्रण) होने के कारण विभाग कर पाना कठिन है  
 तथापि संग्रहोक्त त्रिभिरन्योन्यसंगमः को अपनी बुद्धि से अर्थतः विभाग करके  
 अन्वय कर लेना चाहिये। इसका यह अभिप्राय है कि गीतोक्त नियतस्य तु  
 संन्यासः आदि और यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम् आदि श्लोकों से तथा महाभारत के  
 आचारप्रभवो धर्मः.. तथा विष्णुपुराण के वर्णाश्रमचारवता....श्लोकों से भी  
 वर्णाश्रमधर्म की जो इतिकर्तव्यता बतायी गयी है, उनकी सिद्धि हेतु शास्त्रोक्त  
 आज्ञा होने के कारण उनका अनुष्ठान करना चाहिये और अग्नि, इन्द्र आदि शब्दों  
 का भी उपनिषद् में वर्णित प्रतर्दनविद्या के अनुसार अग्नि आदि शब्द 'अग्नि-इन्द्र  
 आदि शरीर हैं जिसके' ऐसे भगवान् पर्यन्त के बोधक हैं, ऐसा अनुसन्धान करना  
 चाहिये। शास्त्राज्ञा का पालन करते समय अनन्यता की हानि न हो, अतः  
 उपनिषदुक्तन्याय से इन्द्रादिशब्दों का भी इन्द्रादि के अन्तर्यामी परब्रह्म अर्थ समझ  
 कर तादृश कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये।

शारीरकग्रन्थ ब्रह्मसूत्र के साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः (१.२.२९) सूत्र  
 के अनुसार ही यज्ञग्रहाध्यायोक्त प्रक्रिया से जैसे वे सभी शब्द परब्रह्म के प्रतिपादक

तथा 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदः' (गीता-४.३०) इति श्लोके भाष्यम्-  
द्रव्ययज्ञप्रभृतिप्राणायामपर्यन्तेषु कर्मयोगभेदेषु स्वसमीहितेषु प्रवृत्ता एते  
सर्वे, 'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' (गीता-३.१०) इत्यभिहितमहायज्ञ-  
पूर्वकनित्यनैमित्तिककर्मरूपयज्ञविदस्तन्निष्ठास्तत एव क्षपितकल्मषा  
यज्ञशिष्टामृतेन शरीरधारणं कुर्वन्त एते कर्मयोगे व्यापृताः सनातनं ब्रह्म  
यान्ति' इति। 'एवं बहुविधा यज्ञाः' (गीता-४.३२) इत्यत्र चोक्तम्-  
'एवं हि बहुप्रकाराः कर्मयोगा ब्रह्मणो मुखे वितताः, आत्मयाथात्म्या-  
वाप्तिसाधनतया स्थिताः, तानुक्तलक्षणानुक्तभेदान् कर्मयोगान् सर्वान् कर्मजान्  
विद्धि- अहरहरनुष्ठीयमाननित्यनैमित्तिककर्मजान् विद्धि' इति। 'भोक्तारं  
यज्ञतपसाम्' (गीता-५.२१) इतिश्लोकमवतारयंश्चैवमाह- 'उक्तस्य  
नित्यनैमित्तिककर्मेतिकर्तव्यताकस्य कर्मयोगस्य योगशिरस्कस्य सुशक्तत्वमाह'  
इति।

.....  
हैं, उसी तरह वेदोक्त तत्तत् कर्म भी परमपुरुष के ही आराधनरूप हैं, ऐसा मानना  
सम्भव है और तत्तत् कर्मों के आराधकों में भी ऐकान्त्य=अनन्यता बनी रहती है।  
उक्त सूत्र का अर्थ है- साक्षात् अपि=अग्नि आदि शब्दों का अव्यवधानरूप से  
ही अवयवशक्ति से परमात्मा-वाचक होने पर भी, अविरोधम्=अर्थविशेषवाचक  
का उससे भिन्न अर्थ के वाचकत्व के वर्णन रूप विरोध नहीं होता, ऐसा,  
जैमिनिः=जैमिनि आचार्य मानते हैं। उपर्युक्त कारणों से यहाँ जठराग्नि को प्रतीक  
मानकर उसके रूप में परमात्मा की उपासना मानने की आवश्यकता नहीं है। इस  
तरह प्रतीकोपासना का निषेध करके उक्त सूत्र से परमात्मा के कथन में तात्पर्य  
बताया गया है। फलितार्थ यह है कि वेदोक्त सभी कर्मों को करते हुये भी इन्द्रादि  
शब्दों के कारण अनन्यताहानि की आशंका नहीं करनी चाहिये अपितु इन्द्रादिशब्दों  
को भी परमात्मा का वाचक मानकर अनुष्ठान करने से अनन्यता की हानि नहीं  
होती। इस कथन से यह सूचित होता है कि कर्मयोग में भी नित्यनैमित्तिक कर्मों  
की अनिवार्य कर्तव्यता है।

तथा 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदः'। और भी- गीतोक्त 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदः'  
इस श्लोक के भाष्य में भी भगवान् श्रीरामानुजाचार्य स्वामी जी ने कहा है-  
'द्रव्ययज्ञ आदि से प्राणायाम पर्यन्त अपने द्वारा समीहित कर्मयोग के विभिन्न भेदों

अथ त्रयाणां योगानां परमभक्तिजनने प्रत्यगात्मदर्शन-  
रूपमवान्तरव्यापारं सहेतुकमाह- आत्मेति। योगोऽत्र समाधिरूप-  
मन्तःकरणैकाग्र्यम्, तत्साध्यसाक्षात्कारो दृष्टिः।

ननु यद्यपि कर्मयोगस्य ज्ञानयोगव्यवधानमन्तरेणापि आत्माव-  
लोकनसाधनत्वं पूर्वमेवोक्तम्, तथापि भक्तियोगस्य तत्साधकत्वमयुक्तं,  
तस्यात्मावलोकनपूर्वकत्वादिति, मैवम्; भक्तिनिष्ठाया एव पर्वभेदेन  
सर्वोपपत्तेर्ज्ञानदर्शनप्राप्तीनामविशेषेण भक्तिसाध्यत्वमुच्यते, तच्च  
पर्वभेदमन्तरेण नोपपद्यते। अत एव ह्यात्मावलोकनानन्तरं 'मद्भक्तिं लभते  
पराम्' (गीता-१८.५४) इति परशब्देन विशेष्यते।

.....  
में प्रवृत्त ये सभी यज्ञ के जानकार हैं और 'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' श्लोक से  
निर्दिष्ट महायज्ञ पूर्वक नित्य, नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञों को जानने वाले और तदनु रूप  
आचरणनिष्ठ तथा उसी आचरण से जिनका कल्पसमाप्त हो गया है, ऐसे  
यज्ञशिष्ट प्रसाद के द्वारा जो शरीरधारण करते हैं, वे कर्मयोग में लगे हुये पुरुष ही  
सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इस तरह कर्मयोग अनिवार्य बताया गया है।

इसी तरह आगे 'बहुविधाः यज्ञाः' श्लोक के भाष्य में श्रीस्वामीजी ने  
यह भी कहा गया कि- 'इस तरह बहुत प्रकार के कर्मयोग ब्रह्म के मुख में विस्तृत  
हैं और आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति के साधनरूप में स्थित हैं। इस प्रकार  
जिनके लक्षणों और भेदों का वर्णन किया गया। उन समस्त कर्मयोग को तुम  
कर्मजनित समझो अर्थात् ये यज्ञ कर्मयोग की कोटि में आते हैं। प्रतिदिन किये जाने  
वाले नित्य, नैमित्तिक कर्मानुष्ठान से ये यज्ञ उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानो' इत्यादि।

इसी तरह पाँचवें अध्याय के अन्तिम श्लोक की अवतरणिका लिखते  
हुये श्रीस्वामीजी ने कहा कि- 'नित्य और नैमित्तिक कर्मों की इतिकर्तव्यताविषयक  
योगशीर्षक पूर्वोक्त कर्मयोग सुखपूर्वक साध्य है, ऐसा गीताचार्य कह रहे हैं'  
इत्यादि। कर्मयोग के विषय में बारम्बार यह बताया जा रहा है कि यह करने में  
सरल है और निष्प्रमाद है।

अथ त्रयाणां योगानाम्। अब तीनों कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग  
का परमात्मा के प्रति परम भक्ति उत्पन्न करने में प्रत्यगात्मा=जीव का स्वात्मदर्शनरूप  
अवान्तर व्यापार होता है, इस विषय को हेतुओं के साथ संग्रहकार कहते हैं-



अत आत्मावलोकनरहितस्याप्यद्यतनभक्तानामिव स्तुति-  
नमस्कारकीर्तनादिनिष्ठया सेवारूपत्वादभिव्यक्तया भक्तिशब्दाभिलष्यया  
आत्मावलोकनमुपपद्यते।

.....  
**आत्मदृष्टेः।** यहाँ पर आत्मदृष्टि-शब्द का अर्थ है स्वात्मस्वरूपदर्शन। प्रकृत पद्य  
के योगद्वारेण में योग-शब्द का अर्थ है- समाधिरूप अन्तःकरण की एकाग्रता। उस  
एकाग्रता से साध्य जो आत्मसाक्षात्कार है, तादृश आत्मसाक्षात्कार से साध्य होने  
वाली है दृष्टि। इस तरह आत्मदृष्टि शब्द का अर्थ बना- समाधिरूप अन्तःकरण  
की एकाग्रता से साध्य होने वाला आत्मसाक्षात्कार। **आत्मदृष्टेः=आत्मासाक्षात्कार**  
का। आत्मासाक्षात्कार साध्य है और कर्म, ज्ञान और भक्ति योग के द्वारा ही  
आत्मसाक्षात्कार के साधक होते हैं।

**ननु यद्यपि कर्मयोगस्य।** अब प्रश्न होता है कि यद्यपि कर्मयोग ज्ञानयोग  
के व्यवधान के बिना ही आत्मसाक्षात्कार का साधन होता है, यह बात पहले ही  
गीता में बतायी जा चुकी है, तथापि भक्तियोग को आत्मसाक्षात्कार का साधक  
बताना अनुचित है, क्योंकि भक्तियोग आत्मसाक्षात्कारपूर्वक होता है अर्थात्  
आत्मसाक्षात्कार के बाद ही भक्तियोग आरम्भ होता है। इस शंका का समाधान देते  
हुये कह रहे हैं कि आपका मानना ठीक नहीं है, क्योंकि भक्तिनिष्ठा के ही  
पर्वभेद (अवान्तरभेद) कर्मयोगादि को मानने से सब कुछ ठीक हो जाता है। अतः  
ज्ञान, दर्शन और प्राप्ति को समानरूप से भक्तिसाध्य कहा जाता है अर्थात् ज्ञान,  
दर्शन और प्राप्ति भी भक्ति से ही लभ्य हैं। वह पर्वभेद के बिना सम्भव नहीं है।  
अतः आत्मावलोकन=आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर ही **मद्भक्तिं लभते पराम्** श्लोक  
में परा शब्द के द्वारा परम-भक्ति को विशेष बताया गया है। यह पहले भी बताया  
जा चुका है कि उपनिषदादि में वेदन, दर्शन, ज्ञान आदि शब्द पर्यायवाची माने गये  
हैं। इस विषय का श्रीभाष्यकार ने श्रीभाष्य, वेदार्थसंग्रह, गीताभाष्य आदि में  
स्पष्टतया सिद्ध किया है।

**अत आत्मावलोकन०।** भक्तिसाध्य का तात्पर्य है भक्ति से सिद्ध होने  
वाले। अतः आजकल के भक्तों की तरह आत्मावलोकन से रहित लोगों को भी  
भगवान् की स्तुति, नमस्कार, कीर्तन आदि में निष्ठा सेवारूप से कथित  
भक्ति-शब्द से कही जाने वाली प्रक्रिया के द्वारा भी आत्मावलोकन हो सकता  
है। तात्पर्य तो यह है कि भगवान् की स्तुति, नमस्कार, कीर्तन आदि सेवा से भक्ति

दर्शितश्च परावरभक्तिविभागो वेदार्थसङ्ग्रहे- 'सोऽयं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमो निरतिशयपुण्यसञ्चयक्षीणाशेषजन्मोपचितपापराशेः परमपुरुष-चरणारविन्दशरणागतिजनिततदाभिमुख्यस्य सदाचार्योपदेशोपबृंहितशास्त्राधि-गततत्त्वयाथात्म्यावबोधपूर्वकाहरहरूपचीयमानशमदमशौचक्षमार्जवभयाभय-स्थानविवेकदयाहिंसाद्यात्मगुणोपेतवर्णाश्रमोचितपरमपुरुषाराधनरूपनित्य-

.....  
प्राप्त हो सकती है और तादृश भक्तिद्वारा आत्मसाक्षात्कार होता है तथा आत्मावलोकन के अनन्तर ही परा भक्ति की सिद्धि होती है।

दर्शितश्च परावरभक्तिविभागो वेदार्थसङ्ग्रहे। वेदार्थसंग्रह में पर और अवर का विभाग इस तरह से प्रदर्शित किया गया है- सोऽयं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमः का भक्त्येकलभ्यः के साथ अन्वय है। इसका तात्पर्य यह है कि परब्रह्मभूत परमात्मा विशेष अधिकारी को केवल भक्तियोग से ही लभ्य हैं। अब प्रश्न होता है कि वह अधिकारी कौन है? उसका देते हुए वेदार्थसंग्रह में श्रीभाष्यकार कहते हैं-

निरतिशय-पुण्यसञ्चय-क्षीण-अशेष-जन्म-उपचित-पापराशेः अर्थात् जो साधक निष्कामभाव से अपार पुण्यों को करता है, उससे निरतिशय सुकृतों का संचय होता है। उससे अशेष अनन्त जन्मों में अर्जित पापराशि नष्ट हो जाती है। उसके बाद-

परमपुरुषचरणारविन्दशरणागतिजनिततदाभिमुख्यस्य अर्थात् उस साधक को संसार से विरक्ति और भगवान् को प्राप्त करने के उत्कण्ठा हो जाती है। वह भगवत्प्राप्ति निर्विघ्नतापूर्वक हो, एतदर्थ सर्वप्रथम भगवान् के चरणाविन्दों की शरण में चला जाता है। शरण में जाते ही वह साधक भगवान् का अभिमुख हो जाता है। भगवत्प्राप्ति ही उसके जीवन का ध्येय बन जाती है।

सदाचार्योपदेशोपबृंहितशास्त्राधिगततत्त्वयाथात्म्यावबोधपूर्वक। अर्थात् ऐसा साधक अपने सदाचार्य का उपदेश श्रवण करता है। सदाचार्य के उपदेश से अधीत और अनधीत सब तरह के शास्त्रों को अर्थ हृदय में उतर जाते हैं। उसके मन में किसी तरह के संशय और भ्रम नहीं रहते। इस प्रकार उसको स्वस्वरूप और परस्वरूप आदि का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

अहरहरूपचीयमानशमदमशौचक्षमार्जवभयाभयस्थानविवेक-दयाहिंसाद्यात्मगुणोपेत। अर्थात् जब सदाचार्य के उपदेश से उसे स्वस्वरूपादि का

नैमित्तिककर्मोपसम्भूतनिषिद्धपरिहारनिष्ठस्य परमपुरुषचरणयुगल-  
न्यस्तात्मात्मीयस्य तद्भक्तिकारितानवरतस्तुतिस्मृतिनमस्कृतियतनकीर्तनगुण-

.....  
ज्ञान होता है तो उसके आत्मगुण प्रतिदिन बढ़ते रहते हैं। आत्मा के गुण हैं- शम, दम, शौच, क्षमा, आर्जव, भयस्थानविवेक, अभयस्थानविवेक, दया और अहिंसा। आदि शब्द से और भी गुण लिये जाते हैं। अन्तःकरण मन को वश रखना शम है। बाह्य दसों इन्द्रियों को वश में रखना दम है। कृच्छ्र और चान्द्रायण आदि धर्माशास्त्रविहित तपस्या करना तप है। मन, वाणी और शरीर को शुद्ध रखना शौच है। दुःख सहने की शक्ति रखना क्षमा है। सदा सरल बने रहना और कहीं कुटिल व्यवहार न करना आर्जव है। भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करना और भगवदपचार, भागवतापचार, असह्यापचार इत्यादि भयस्थान हैं, इनसे डरते रहना अर्थात् इन पापों को नहीं करना चाहिये, ऐसा जानना भयस्थानविवेक है। भगवान् रक्षक है। इस अध्यवसाय से अभयप्राप्त होता है। जो भगवान् के अनुग्रह का पात्र बन जाता है, वह अभय को प्राप्त करता है, इस बात को अच्छी तरह से समझना अभयस्थानविवेक है। दूसरों के दुःखों को देखकर उसे सहन न करना और निःस्वार्थभाव से दुःखों को दूर करने के लिये उद्यत होना दया है। दूसरे के दुःखों का कारण न बनना अहिंसा है। आचार्योपदेश से साधक में इन गुणों की वृद्धि होने लगती है। उसके बाद-

**वर्णाश्रमोचितपरमपुरुषाराधनरूपनित्यनैमित्तिककर्मोपसम्भूत-  
निषिद्धपरिहारनिष्ठस्य।** ऐसा साधक शास्त्रनिषिद्ध कर्मों को त्याग देता है तथा वर्ण एवं आश्रम धर्म के अनुरूप नित्य और नैमित्तिक कर्मों को भगवान् की आराधना समझकर करते रहता है। इस तरह परमपुरुष भगवान् का आराधनरूप नित्य और नैमित्तिक कर्मों से सम्पन्न और निषिद्धाचरण के परिहार में निष्ठ होकर परमपुरुष भगवान् के चरणयुगलों में आत्मनिक्षेप कर देता है।

**परमपुरुषचरणयुगलन्यस्तात्मात्मीयस्य।** आत्मगुणों की वृद्धि होने पर वह साधक परमपुरुष भगवान् का आराधनरूप नित्य और नैमित्तिक कर्मों से सम्पन्न और निषिद्धाचरण के परिहार में निष्ठ होकर परमपुरुष भगवान् के चरणयुगलों में आत्मनिक्षेप कर देता है। न केवल आत्मनिक्षेप करता है, अपितु आत्मा और आत्मीय पदार्थों को समर्पित करता हुआ भगवान् से यह निवेदन करता है कि मैं और मेरे कहे जाने वाले पदार्थ वास्तव में मेरे नहीं हैं, अपितु ये सब

श्रवणवचनध्यानार्चनप्रणामादिप्रीतपरमकारुणिकपुरुषोत्तमप्रसाद-  
विध्वस्तस्वान्तर्ध्वान्तस्यानन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशयप्रियविशदतम-  
प्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपभक्त्येकलभ्यः' इति।

.....  
आपके हैं, मैं भी आपका हूँ, रक्षा से होने वाले फल के प्रधान भोक्ता भी आप ही हैं, मैं नहीं।

तद्भक्तिकारितानवरतस्तुतिस्मृतिनमस्कृतियतनकीर्तनगुणश्रवण-  
वचनध्यानार्चनप्रणामादिप्रीतपरमकारुणिकः। इस साधक को शास्त्रों से भगवत्तत्त्व  
आदि को समझते समय से लेकर भगवान् के चरणारविन्दों में भक्ति बनी रहती  
है। साधनानुष्ठान बढ़ते-बढ़ते वह भक्ति भी बढ़ती जाती है। बढ़ने वाली  
भगवद्भक्ति से प्रेरित होकर वह साधक अनवरत भगवान् की स्तुति करता रहता  
है। भगवान् का गुणानुवाद करना उसका स्वभाव बन जाता है। वह भक्ति ही उससे  
भगवान् ही अनवरत स्तुति, स्मृति, नमस्कार, कीर्तन, गुणानुवादश्रवण एवं गुणकथन,  
अर्चन, प्रणाम आदि कराती रहती है अथवा भगवान् भगवान् स्वयं भक्ति से प्रसन्न  
होकर उससे स्तुति आदि कराते रहते हैं और उससे भगवान् स्वयं और भी प्रसन्न  
हो जाते हैं। यह सिलसिला चलता रहता है। वह साधक भगवान् का स्मरण,  
नमस्कार, वन्दन करता ही रहता है। भगवान् के लिये पुष्पोद्घान इत्यादि के  
निर्माणार्थ कार्य करने में उसे आनन्द मिलता है। भगवन्नामसंकीर्तन, भगवान् के  
गुणों का श्रवण एवं प्रवचन, भगवान् का नित्य ध्यान, अर्चन और प्रणाम आदि  
करने में वह अपने को कृतकृत्य एवं कृतार्थ समझता है। इस प्रकार भक्ति से प्रेरित  
होकर साधनानुष्ठान करने वाले के प्रति परमकारुणिक पुरुषोत्तम परम प्रसन्न हो  
जाते हैं।

पुरुषोत्तम-प्रसाद-विध्वस्त-स्वान्तर्ध्वान्तस्य अनन्यप्रयोजन-अनवरत-  
निरतिशय-प्रिय-विशदतम-प्रत्यक्षतापन्न-अनुध्यानरूप-भक्त्येकलभ्यः' इति।  
ऐसे परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम भगवान् श्रीमन्नारायण के अनुग्रह से इस साधक के मन  
में अनादिकाल से रहने वाला रजस्तमोगुणरूप अन्धकार सदा के लिये नष्ट हो  
जाता है। मन की मलिनता दूर होने पर उसका मन प्रेमप्रकाश से भर जाता है। वह  
साधक के निर्मल मन में भगवद्भक्ति और भगवत्प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य कोई  
प्रयोजन की आशा ही नहीं रहती अर्थात् अनन्यप्रयोजन बन जाता है। वह साधक  
निर्मल मन से भगवान् के दिव्यात्मस्वरूप का निरन्तर अनुसन्धान करने लगता है,

तदुक्तं परमगुरुभिर्भगवद्यामुनाचार्यपादैः- 'उभयपरिकर्मितस्वान्त-  
स्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः' इति॥२५॥

**निरस्तनिखिलाज्ञानो दृष्ट्वात्मानं परानुगम्।  
प्रतिलभ्य परां भक्तिं तथैवाप्नोति तत्पदम्॥२६॥**

.....  
यह अनुसन्धान ही समाधि है। दिव्यात्मस्वरूप की अनुसन्धानस्वरूपिणी स्मरणधारा शुष्क स्मरणधारा नहीं है, किन्तु प्रेमरस से ओतप्रोत है। यह स्मरणधारा साधक को अत्यन्त प्रिय लगती है, अत एव साधक इसे छोड़ना नहीं चाहता। भगवान् का आनन्दमय दिव्यात्मस्वरूप अत्यन्त प्रिय लगता है, अत एव उसकी स्मरणधारा अत्यन्त प्रिय लगती है। यह धारा बढ़ते-बढ़ते इतनी विशद बन जाती है कि प्रत्यक्ष के समानरूप को धारण कर लेती है। ध्यान के बाद होने वाले इस प्रेममिश्रित प्रत्यय (प्रतीति, विश्वास) समानाकार वाली विशदतम समाधिरूपिणी पराभक्ति के द्वारा भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस तरह भगवद्भक्ति ही उपाय बन जाती है।

**विशेषः-** समाधि प्राप्त होने तक किये जाने वाले भगवदाराधन आदि अंग माने जाते हैं, समाधिनिष्ठ पुरुष के द्वारा समाधि से उठने के बाद किये जाने वाले भगवदाराधन आदि भगवत्कर्म अंगी की कोटि में माने जाते हैं। प्रेमी साधक अत्यन्त प्रिय लगने के कारण इस समाधि को उपाय न समझकर स्वयम्प्रयोजनबुद्धि से करता रहता है। उपर्युक्त साधना ही भगवत्प्राप्ति का उपाय है।

तदुक्तं परमगुरुभिर्भगवद्यामुनाचार्यपादैः- 'उभयपरिकर्मितस्वान्त-  
स्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः' इति। इसी बात को सिद्धित्रय में परमाचार्य श्री यामुनाचार्य स्वामी जी ने भी कहा है- कर्मयोग और ज्ञानयोग की निरन्तर सेवा से परिशुद्ध हुये साधक के द्वारा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भक्तियोग से ही भगवान् लभ्य हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग करने से साधक का मन शुद्ध हो जाता है। शुद्धमनस्सम्पन्न साधक को भक्तियोग करने का अधिकार मिल जाता है, वह साधक ऐसे भक्तियोग में प्रवृत्त होता है जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक हैं। ऐकान्तिक भक्ति वही है जो केवल भगवान् के विषय में किया जाता है, देवतान्तर में नहीं। आत्यन्तिक भक्तियोग वही है जो फल प्राप्त होने पर भी नहीं मिटता, किन्तु फलानुभव के समय भी बना रहता है। इस प्रकार भक्तियोग से ही भगवान् प्राप्त होते हैं। यहाँ श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी की श्रीसूक्ति का भाव है॥२५॥

एवं यथाधिकारं परिगृहीतैस्त्रिभिरात्मवलोकनसिद्धिद्वारा परमभक्त्युत्पादनप्रकारं परमभक्तेरेव प्रकृष्टायाः परमप्राप्तिसाधनत्वं च दर्शयति- निरस्तेति। उपायविरोधिसर्वाज्ञाननिवृत्तिरिह 'निरस्तनिखिलाज्ञानः' इत्यनेन विवक्षिता। परानुगम्=परानुचरम्, परशेषतैकरसमित्यर्थः। यथोच्यते- 'नायं देवो न मर्त्यो वा न तिर्यक् स्थावरोऽपि वा।

ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः॥' इति। आह च सर्वज्ञो मन्त्रराजपदस्तोत्रे-

'दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः।

अतोऽहमपि ते दास इति मत्वा नमाम्यहम्॥' इति।

प्रतिलभ्य=परमात्मसकाशात्प्राप्येत्यर्थः। तयैव परमभक्तिरूपविपाकापन्नयेति शेषः। अत एवकारेण नैरपेक्ष्यमव्यवहितत्वं च व्यज्यते।

.....  
श्लोकार्थः- निरस्त-निखिल-अज्ञानः=उपाय के विरोधी समस्त अज्ञान नष्ट हो गया है जिसका, ऐसा साधक, आत्मानम्=अपने को, परानुगं दृष्ट्वा=परमपुरुष के अनुगामी मानकर, परां भक्तिम्=भगवान् की कृपा से ही पराभक्ति को, प्रतिलभ्य=प्राप्त करके, तथा एव=उसी परा भक्ति द्वारा, तत्पदम् आप्नोति=भगवत्पद (मोक्ष) प्राप्त करता है।

एवं यथाधिकारम्। उपर्युक्त प्रकार से कर्मयोगादि में अपने अधिकार के अनुसार परिगृहीत कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के द्वारा आत्मावलोकन की सिद्धि होती है, और उसके द्वारा परम-भक्ति की उत्पत्ति का प्रकार और प्रकृष्टतम परमभक्ति ही परमपुरुष की प्राप्ति का साधन है, इस बात का प्रातिपादन निरस्तनिखिलाज्ञानः इस संग्रहश्लोक से किया गया है।

संग्रह में निरस्तनिखिलाज्ञानः शब्द के द्वारा उपाय के विरोधी समस्त अज्ञान की निवृत्ति को लिया गया है। भक्ति उपाय है और भक्ति के द्वारा प्राप्य परमात्मा उपेय हैं। अन्ततः परमात्मा ही उपाय और परमात्मा ही उपेय हैं, यह रहस्यग्रन्थों में अवगत होता है।

परानुगम् का अर्थ परमात्मा के अनुचर, भगवान् के अनुगामी, सेवक। इसका तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को भगवान् का एकमात्र शेष मानता हो, वह परानुग है। जैसा कि कहा गया है- यह आत्मा न तो देवता है और न मनुष्य तथा

तत्पदम्-तच्चरणम्, पद्यते इति व्युत्पत्त्या पदं मुक्तप्राप्यतया सिद्धं परमपुरुषस्याप्राकृतं स्थानं स्वरूपं वा। तदेतच्छ्लोकद्वयेन गीयते-

‘ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥’ (गीता-१८.५४-५५)  
इति॥२६॥

.....  
न तो तिर्यक् जाति है और न स्थावर ही, यह ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण है तथा परमात्मा की शेषभूत वस्तु है।

मन्त्रराजपदस्तोत्र में सर्वज्ञ ने भी कहा है- ‘समस्त चेतनाचेत स्वतः एव परमात्मा के दासभूत है, अतः मैं भी अपने को भगवान् का ही दास मानकर उनको प्रणाम करने का साहस करता हूँ।

संग्रहोक्त प्रतिलभ्य का अर्थ है- परमात्मा से ही प्राप्त करके। जिस तरह करण-कलेवर के साथ समस्त भोग्य पदार्थ प्रदान करने वाले परमात्मा हैं, उसी तरह परमभक्ति देने वाले भी परमात्मा ही हैं। भक्ति से प्रसन्न परमात्मा साधक को अपनी परमभक्ति प्रदान करते हैं।

संग्रहोक्त तथा एव शब्द के साथ ‘परम-भक्तिरूप विपाक को प्राप्त भक्ति के द्वारा’ इतना अर्थ शेष है अर्थात् तथा एव के साथ इतना और अर्थ जोड़ना चाहिये। एव-शब्द के द्वारा अन्य उपायों की निरपेक्षता पूर्वक अव्यवहित=अन्य किसी व्यवधान के परमभक्ति द्वारा भगवान् प्राप्त होते हैं, ऐसा अर्थ व्यक्त होता है। तात्पर्य यह है कि एव शब्द निश्चयार्थ के लिये प्रयुक्त है और तथा एव अर्थात् उसी पराभक्ति से ही (अन्य किसी भी उपाय के बिना ही) परमात्मा लभ्य हैं।

तत्पदम्। संग्रहोक्त तत्पदम् का अर्थ भी विशेष है। तत्पदम् का एक अर्थ है- भगवान् के चरणों को (प्राप्त होता है)। पद्यते व्युत्पत्ति के द्वारा निष्पन्न पद शब्द का अर्थ मुक्तों के द्वारा प्राप्य के रूप में सिद्ध परमपुरुष भगवान् श्रीमन्नारायण का अप्राकृत स्थान अथवा भगवान् का स्वरूप भी समझ सकते हैं।

तदेतच्छ्लोकद्वयेन। इसी विषय में श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय के दो श्लोकों से कहा गया है- ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा पुरुष न शोक करता

**भक्तियोगस्तदर्थी चेत्समग्रैश्वर्यसाधकः।**

**आत्मार्यं चेत्त्रयोऽप्येते तत्कैवल्यस्य साधकाः॥२७॥**

.....  
है और न आकांक्षा रखता है, सब भूतों में सम हुआ वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है। भक्ति के द्वारा वह मुझको, मैं जितना और जो हूँ, तत्त्वज्ञान से जान लेता है। मुझको तत्त्व से जानकर उसके बाद उक्त पराभक्ति से मुझमें ही प्रवेश कर जाता है।

**विशेषः-** भाष्यकार स्वामी जी ने उक्त दो श्लोकों का भाष्य इस तरह लिखा है- अपरिच्छिन्न ज्ञान ही जिसका एक मात्र आकार है तथा मेरा दास्य ही जिसका एक मात्र स्वभाव है, ऐसे आत्मस्वरूप जिसका प्रकट हो गया है, उसे ब्रह्मभूत कहते हैं। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ( ७.५ ) इस श्लोक से भगवान् ने आत्मा को अपना शेष वस्तु माना है। ऐसा ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा पुरुष क्लेशकर्मादि दोषों से निर्लिप्तस्वरूप पुरुष मेरे अतिरिक्त किसी भी भूतविशेष के लिये न तो शोक करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, अपितु मेरे अतिरिक्त समस्त भूतों में उदासीनभाव से सम हुआ अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुमात्र को तृणवत् समझता हुआ वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह है कि मैं जो सबका ईश्वर हूँ, अखिल जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहाररूप लीला करने वाला, समस्त हेय अवगुणों की गन्ध से भी सर्वथा रहित, अपार अतिशय असंख्य कल्याणमय गुणगणों का एक मात्र आश्रय, लावण्यसुधासागर, श्रीसम्पन्न, कमलनयन हूँ, ऐसे मुझ अपने स्वामी में अत्यन्त प्रेम के अनुभवरूप भक्ति को पा जाता है। यह प्रथम श्लोक का भाष्य है। द्वितीय श्लोक के भगवद्वचन को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि स्वरूप और स्वभाव से मैं जो हूँ तथा गुण और विभूति के कारण मैं जितना हूँ, ऐसे मुझ परमेश्वर को इस प्रकार की पराभक्ति के द्वारा मनुष्य तत्त्वतः जान सकता है। मुझे तत्त्व से जान लेने के बाद उस तत्त्वज्ञान के अनन्तर उस पराभक्ति से मुझ में प्रवेश कर जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वरूप, स्वभाव, गुण और विभूति का तत्त्वतः साक्षात्कार कर लेने के बाद होने वाली अपार अतिशय भक्ति से मुझे प्राप्त होता है। ततः पद से प्राप्तिहेतुभूत से निर्देश की हुयी भक्ति का ही प्रतिपादन होता है, क्योंकि भक्त्या त्वनन्यया शक्यः इस श्लोक में उस भक्ति को ही परमात्मा में तत्त्वतः प्रवेश कराने में हेतु बतलाया गया है॥२६॥



एवं भक्तेर्माक्षसाधनत्वमुक्तम्, सैव मध्यमषट्कोक्त-  
प्रकारेणाचिद्द्रव्यपरिणामविशेषानुभवरूपस्यैश्वर्यस्यापि साधिकेत्याह-  
भक्तीति। एकस्य कथं परस्परविरुद्धयोर्बन्धमोक्षयोः साधनत्वमित्यत्रोक्तम्-  
तदर्थी चेदिति। एकस्यैव तत्तत्फलरागवशाद्विचित्रफलसाधनत्वं 'सर्वेभ्यः  
कामेभ्यो ज्योतिष्ठोमः' इत्यादिष्वपि प्रसिद्धम्। ब्रह्मादिप्रदेयैश्वर्येभ्यः  
समधिकत्वमिह समग्रत्वम्। दृष्टं च लोके सम्राट्सामन्तसेवयोः  
सिद्धितारतम्यम्। न च हिरण्यगर्भादयो हिरण्यगर्भादिपदं प्रदातुं प्रभवन्ति।  
स्वयमेव ह्युक्तं ब्रह्मणा- 'प्राजापत्यं त्वया कर्म सर्वं मयि निवेशितम्'  
इति।

.....  
श्लोकार्थः- तदर्थी चेत्=यदि साधक ऐश्वर्यप्राप्ति का इच्छुक हो तो,  
अर्थात् भक्त निश्रेयस (मोक्ष) या अभ्युदय (लौकिक ऐश्वर्य) जो भी चाहता है,  
समग्रैश्वर्यसाधकः=तादृश समग्र ऐश्वर्य की प्राप्ति की सिद्धि देने वाला,  
भक्तियोगः=भक्तियोग है। चेत् आत्मारथी=यदि साधक केवल आत्मानुभव मात्र  
चाहता है तो उसके लिये, त्रयः अपि एते=कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग ये  
तीनों ही, तत्कैवल्यस्य साधकाः=तादृश कैवल्यरूप आत्मानुभवरूप मोक्ष के  
साधक होते हैं।

एवं भक्तेर्माक्षसाधनत्वमुक्तम्। इसके पहले के पद्य से भक्ति को मोक्ष  
का साधक बताया गया। वही भक्ति गीता के मध्यमषट्क में वर्णित प्रकार से  
अचिद्-द्रव्य-परिणाम-विशेष के अनुभवरूप ऐश्वर्य का भी साधक है, यह बात  
बताने के लिये प्रकृत श्लोक का अवतरण किया है।

एकस्य कथम्। यहाँ पर यह प्रश्न आता है कि एक ही भक्ति  
परस्परविरुद्ध बन्ध और मोक्ष का साधन कैसे बन सकती है? क्योंकि ऐश्वर्य  
बन्धनकारक है तो मोक्ष निवृत्ति का कारण है। इस प्रश्न का समाधान भी इसी  
श्लोक के तदर्थी चेत् शब्द से दिया गया है। यदि ऐश्वर्य चाहता है तो भक्ति  
ऐश्वर्य का साधन है और मोक्ष चाहता है उसका भी साधन है। एक ही भक्ति तत्तत्  
फलों में अनुराग होने के कारण विचित्र (भिन्न-भिन्न) फल का साधन हो सकती  
है, यह बात 'सर्वेभ्यो कामेभ्योः ज्योतिष्ठोमः' इत्यादि श्रुतियों से प्रसिद्ध है।

ब्रह्मादिप्रदेयैश्वर्यस्य। यहाँ संग्रह के श्लोक में समग्रस्यापि कहा गया  
है और समग्र का तात्पर्य है कि ब्रह्मादि देवताओं के द्वारा दिये जाने वाले ऐश्वर्य

अन्यत्र चोक्तम्-

‘युगकोटिसहस्राणि विष्णुमाराध्य पद्मभूः।

पुनस्त्रैलोक्यधातृत्वं प्राप्तवानिति शुश्रुम॥’ इत्यादि।

रौद्रस्यापि पदस्य भगवत्प्रत्तत्वमाम्नायते- ‘अस्य देवस्य मीढुषो वयो विष्णोरेषस्य अवभृथे हविर्भिः। विदे हि रुद्रो रुद्रियं महित्वं यानेषु वर्तिरश्विनाराविवत्’ इति। अस्य=स्वेतरसमस्तव्यावृत्तातिशयतया श्रुत्यादि-प्रसिद्धस्य, देवस्य=अनितरसाधारणात्यद्भुताप्रतिहतक्रीडाविजिगीषा-व्यवहारद्युतिस्तुतिप्रभृतिनित्यनिरवद्यनिरतिशयानन्तमङ्गलगुणमहोदधेः।

.....  
से कहीं बहुत अधिक ऐश्वर्य का प्रदान करना। लोक में भी सम्राट् और सामन्तों की सेवा के अनुरूप फलप्राप्ति देखी जाती है। सम्राट् बहुत दे सकता है किन्तु सामन्त सीमित ही दे सकता है।

**स्वयमेव ह्युक्तं ब्रह्मणा।** हिरण्यगर्भ आदि देवता स्वयं हिरण्यगर्भ पद भक्तों को नहीं दे सकते। यह बात स्वयं ब्रह्मा जी ने भी कही है- ‘हे भगवन्! आपने मुझे प्राजापत्य कर्म एवं अधिकार प्रदान किया है।

**अन्यत्र चोक्तम्।** अन्यत्र भी कहा गया है- ब्रह्मा जी ने करोड़ों युगों तक भगवान् श्रीमन्नारायण की आराधना करने के बाद त्रिलोकी के धातृत्व पद को प्राप्त किया था, ऐसा सुनते हैं’ इत्यादि। इस लिये ब्रह्मादि देवता समग्र दे नहीं सकते। समग्र ऐश्वर्य के प्रदाता तो एक मात्र भगवान् श्रीमन्नारायण ही हैं और वे अपनी भक्ति के माध्यम से देते हैं।

जिस तरह ब्रह्मा जी को ब्रह्मपद भगवान् द्वारा प्रदत्त है, उसी तरह रुद्र जी को उनका पद भगवान् द्वारा ही प्रदत्त है, यह बात श्रुतिप्रमाण से सिद्ध करते हैं-

**रौद्रस्यापि पदस्य भगवत्प्रत्तत्वमाम्नायते।** रुद्र को रुद्रपद भी भगवान् के द्वारा प्रदत्त है, यह बात श्रुति ही बताती है। जैसे कि **अस्य देवस्य मीढुषो.....वर्तिरश्विनाराविवत्** इस वैदिक मन्त्र से ही सिद्ध होता है। इस मन्त्र के प्रत्येक पदों की रक्षाकार ने स्वयं व्याख्या की है। जैसे-

**अस्य** यह इदम्-शब्द का षष्ठ्यन्त पद है और इसका अर्थ है- अपने से भिन्न समस्त पदार्थों से विलक्षण और अत्यन्त भिन्न श्रुति आदि में प्रसिद्ध परमात्मा का। यह पद अग्रिम **विष्णोः** का विशेषण है।

मीदुषः='मिह सेचने' सेक्तुर्दातुः, उदारस्येत्यर्थः। वयः=अवयवतया शाखाभूतः, शरीरतयाङ्गभूतः, इत्यर्थः। 'वयाः शाखाः' इति यास्कः। विष्णोः=सर्वव्यापनशीलतया सर्वान्तर्यामिभूतस्य नारायणस्य। 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णम्' इति श्रूयते। एषस्य=एषणीयस्य प्रार्थनीयस्य, अभिमतफलार्थं याचनीयस्येत्यर्थः। अवभृथे हविर्भिः=सर्वमेधाख्ये यागे विष्णवे समर्पितैः स्वात्मपर्यन्तैर्हविर्भिः। विदे हि=विदे लेभे, हीति-हेतौ, प्रसिद्धौ वा। रुद्रियम्=रुद्रस्य सम्बन्धि स्वसम्बन्धीत्यर्थः। यद्वा- ब्रह्मरुद्रेन्द्रादीनां प्रवाहानादित्वादुद्रजातिसम्बन्धितया प्रथितं, महित्वम्=महिमानमित्यर्थः।

.....  
देवस्य=अन्य में न रह पाने वाले अति अद्भुत अप्रतिहत क्रीडा (लीला), विजिगीषा (सबों के जितने का सामर्थ्य), द्युति (प्रकाश) स्तुति(प्रशंसनीयता) आदि नित्य, निरवद्य, निरतिशय, अनन्त मंगल गुण के महासागर देव का। यह पद भी अग्रिम विष्णोः का विशेषण है। दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमदस्वप्न-कान्तिगतिषु धातु से देव शब्द बनता है और भगवान् श्रीविष्णु में क्रीडार्थ, जिजिगीषार्थ, व्यवहारार्थ, द्युत्यर्थ, स्तुत्यर्थ, कान्त्यर्थ और गत्यर्थ सभी अर्थ घटित होते हैं।

मीदुषः=सबका आसिंचन करने वाले अति उदार। मिह सेचने धातु से पाणिनीयसूत्रद्वारा क्वसुप्रत्ययान्त मीद्वान् का निपातन किया गया है और उससे षष्ठी में मीदुषः सिद्ध होता है। मीद्वान् का अर्थ सिञ्चनकर्ता (सेक्ता) है और यहाँ पर तात्पर्यार्थ है- अति उदार। यद्यपि सामान्यतया इसका प्रयोग शिव जी के लिये किया जाता है किन्तु यहाँ पर विष्णोः पद का विशेषण होने के कारण विष्णुपरक अर्थ किया गया है।

वयः=अवयवतया शाखाभूत अर्थात् शरीरतया अंगभूत। निरुक्तकार यास्क ने वयः का अर्थ शाखा माना है।

विष्णोः=सर्वत्र व्यापनशील होने के कारण अन्तर्यामितया अवस्थित भगवान् श्रीमन्नारायण का, (वृक्ष की तरह परलोक में भगवान् विराजमान है और उनसे यह चराचर पूर्ण है) आदि श्रुतिप्रमाणों से,

एषस्य=एषणीय अर्थात् प्रार्थनीय, अभिमत फलप्राप्ति के लिये याचनीय भगवान् का, अवभृथे हविर्भिः=यज्ञान्त में हवि के द्वारा अर्थात् सर्वमेध-नामक

एतदुपबृंहणाभिप्रायेण चोक्तं महाभारते-

‘महादेवः सर्वमेधे महात्मा हुत्वात्मानं देवदेवो बभूव’ इति।

‘एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ।

तदादर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारिणौ॥’ (म. भा. शा. २-३२८.१७)

इत्यादिभिश्च सर्वत्रायमर्थः प्रसिद्ध इत्यलं विस्तरेण।

एवमचित्तत्त्वानुभवरूपैश्वर्यसाधकत्वं भक्तेरुक्तम्। अथ चेतनरूपात्मतत्त्वानुभवरूपार्वाचीनकैवल्यस्य साधनत्वं तस्याः प्रदर्शयन् ज्ञानयोगकर्मयोगयोरप्यर्थस्वभावात् परमपुरुषप्रीतिद्वारेण तत्साधनत्वं युक्तमित्यभिप्रायेणाह- आत्मेति। अचिदनुभवादीश्वरानुभवाच्च विविक्तरूपोऽनुभव इह तत्कैवल्यशब्देन विवक्षितः। अत्र च वक्तव्यं सर्वं तात्पर्यचन्द्रिकायां प्रपञ्चितमस्माभिः॥२७॥

याग में भगवान् को आत्मा के साथ समर्पित हवि के द्वारा, रुद्रियं=रुद्रसम्बन्धी पद को, विदे=रुद्र ने प्राप्त किया था। अथवा ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि का प्रवाह अनादि होने के कारण रुद्रजातीय या रुद्रसम्बन्धी प्रसिद्ध महिमा को रुद्र ने प्राप्त किया था। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि को भी उनका महत्त्व भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है।

एतदुपबृंहणाभिप्रायेण चोक्तं महाभारते। उक्त श्रुति के उपबृंहण के रूप में महाभारत में भी कहा गया है कि महात्मा महादेव ने सर्वमेध नामक भगवान् श्रीमन्नारायण के यजनरूप यज्ञ में अपनी भी आहुति देकर देवदेव बन गये थे। इसी तरह यह भी बताया गया है कि ये ब्रह्मा और रुद्र देवश्रेष्ठ हैं और भगवान् की प्रसन्नता और क्रोध से उत्पन्न हुये हैं। भगवान् के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलते हुये ये सृष्टि और संहार रूप कार्य सम्हालते हैं। उपयुक्त कथनों से सर्वत्र यही अर्थ सिद्ध होता है कि जिन-जिन देवों को जो-जो शक्ति और महिमा प्राप्त है, वह सब भगवान् के द्वारा ही प्रदत्त है। और ज्यादा क्या कहें, सर्वत्र यही बात समझनी चाहिये।

एवमचित्तत्त्वानुभवरूपैश्वर्यसाधकत्वं भक्तेरुक्तम्। इस तरह अचित् तत्त्व (अचेतन पदार्थ) के अनुभव रूप ऐश्वर्य का साधक भी भक्ति ही है, ऐसा भक्ति के विषय में मूल श्लोक में कहा गया है। अब चेतन-रूप आत्मतत्त्व के

**ऐकान्त्यं भगवत्येषां समानमधिकारिणाम्।  
यावत्प्राप्ति परार्थी चेत्तदेवात्यन्तमश्नुते॥२८॥**

एवमतिशयितैश्वर्यकैवल्यभगवत्प्राप्त्यर्थिनामधिकर्तव्याया भक्तेः  
सारभूतं साधारणं रूपं निष्कर्षयति- ऐकान्त्यमिति। ऐकान्त्यमत्रा-  
नन्यदेवताकत्वम्।

‘चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि ते स्मृताः।

तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते चैवानन्यदेवताः॥’ इत्यनुगीतावचनं  
ज्ञानिनामैकान्त्यस्य नित्यत्वाभिप्रायेण। अत्र तु यावत्स्वाभिमतफल-  
लाभमैकान्त्यं समानमित्युच्यते। एतेन कर्मयोगज्ञानयोगावस्थयोरप्यैकान्त्यं  
सिद्धम्, सर्वत्र भगवत्प्राप्तपूर्वकत्वावश्यम्भावात्।

.....  
अनुभव रूप अर्वाचीन कैवल्य का साधन भी भक्ति ही है, यह दिखाते हुये यह  
भी बता रहे हैं कि ज्ञानयोग और कर्मयोग भी अर्थस्वभाव के अनुसार परमात्मा की  
प्रीति के द्वारा ही तत्तत् फलों के साधक होते हैं। इस बात को मूलकार ने  
**आत्मारथी चेत्** पदों से कहा है। अचित् तत्त्व का अनुभव और ईश्वरतत्त्व का  
अनुभव- इन दोनों अनुभवों से भिन्न केवल आत्मतत्त्व का अनुभव करना यहाँ पर  
**कैवल्य** शब्द का तात्पर्य है। कैवल्य प्राप्ति का तात्पर्य ही यह है कि वह अचित्  
(जड़, संसार) से मुक्त हो जाता है किन्तु भगवदनुभव से वञ्चित रह जाता है।  
इस विषय पर जो कहना है, वह सब मैंने (वेदान्तदेशिक ने) गीता की  
तात्पर्यचन्द्रिका नामक व्याख्या में विस्तृत रूप से कह दिया है। अतः विस्तारपूर्वक  
जानने के इच्छुक लोगों को वहीं पर देख लेना चाहिये॥२७॥

श्लोकार्थः- **एषाम् अधिकारिणाम्**=भक्तियोग के माध्यम से भगवान् से  
ऐश्वर्य या मोक्ष चाहने वाले अधिकारी भक्तों के लिये, **भगवति**=भगवान् में,  
**ऐकान्त्यम्**=ऐकान्तिक (अनन्य) भक्ति का होना, **समानम्**=समान है और वह  
ऐकान्तिक भक्ति, **यावत्प्राप्ति**=जब तक फल की प्राप्ति नहीं होती, तब तक करते  
रहना चाहिये। **चेत्**=यदि, **परार्थी**=भक्त केवल परार्थी अर्थात् भगवान् को ही प्राप्त  
करना चाहता है तो, **तदेव**=वह भी भक्ति के द्वारा ही, **अत्यन्तम् अश्नुते**=पूर्णतया  
प्राप्त कर सकता है।

एवमचिदनुभवात् स्वानुभवाच्च विलक्षणमीश्वरानुभव-  
मभ्यर्थयमानस्याधिकार्यन्तरव्यावृत्तात्यन्तिकत्वलक्षणभक्तिवैशिष्ट्यया-  
दव्यवधानेनात्यन्तिकतत्प्राप्तिमाह- यावदिति। फलान्तरसङ्गरूपान्तराया-  
नुपहतश्चेदव्यवधानेन भगवन्तं प्राप्य पुनः संसारं न प्राप्नोतीत्यर्थः।  
पदाभिप्रायेण तदिति नपुंसकत्वम्॥२८॥

.....  
पूर्वश्लोक से ऐश्वर्यार्थी और आत्मारथी का कथन किया गया था और यह भी कहा गया कि समग्र शब्द के द्वारा उस ऐश्वर्य को लिया गया है, जो ब्रह्मा, रुद्र आदि देव जितना प्रदान कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक है। आत्मारथी शब्द का अर्थ है जो केवल आत्मानुभव मात्र करके रहना चाहते हैं। जो केवल आत्मारथी हैं, वे संसारबन्धन से तो मुक्त हो जाते हैं किन्तु भगवदनुभव तक नहीं पहुँचना चाहते। प्रकृत श्लोक से पूर्वोक्त ऐश्वर्यार्थी और आत्मारथी से भिन्न परार्थी अर्थात् केवल परमात्मा की प्राप्ति करना चाहते हैं, उनके विषय में कहा गया है। परार्थी यावज्जीवन भगवान् की ऐकान्तिक भक्ति करके भगवान् को ही पा जाता है। भगवान् को पूर्णतया पा लेना ही मोक्ष है और तादृश मोक्ष का आकांक्षी है परार्थी। इस श्लोक से यह भी कहा गया कि चाहे परार्थी हो या ऐश्वर्यार्थी- दोनों की परमात्मा में पराभक्ति होती है।

**एवमतिशयितैश्वर्यकैवल्य०।** अब प्रकृत अतिशय ऐश्वर्य, कैवल्य और भगवत्प्राप्ति चाहने वालों के लिये अवश्यकरणीय भक्ति के सारभूत साधारण स्वरूप का निर्वचन इस श्लोक से कर रहे हैं। उसके लिये आचार्य ने भगवति ऐकान्त्यम् पदों का प्रयोग किया है। चाहे अतिशय ऐश्वर्य चाहता हो या कैवल्य चाहता हो अथवा भगवत्प्राप्ति ही चाहता हो, उन सभी प्रकार के भक्तों के लिये भगवान् के प्रति ऐकान्तिक भक्ति का होना अनिवार्य है अर्थात् तीनों में ऐकान्तिक भक्ति समान है। यहाँ पर ऐकान्तिक का तात्पर्य है- अनन्यदेवताकत्व अर्थात् केवल भगवान् की ही भक्ति हो और भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवता की भक्ति न हो। अनुगीता में कहा गया कि जो चार प्रकार के मेरे भक्त कहे गये हैं, उनमें एकान्ती भक्त श्रेष्ठ हैं, जो अनन्यभक्ति से युक्त हैं। यह अनुगीता का वचन ज्ञानियों में नित्य ऐकान्तिक सम्बन्ध के अभिप्राय से कहा गया है। यहाँ गीतार्थसंग्रह में तो जब तक भक्ति का फललाभ नहीं होता तब तक तीनों प्रकार के भक्तों के लिये ऐकान्तिकी भक्ति समान ही है। इस कथन से यह भी सिद्ध

**ज्ञानी तु परमैकान्ती तदायत्तात्मजीवनः।**

**तत्संश्लेषवियोगैकसुखदुःखस्तदेकधीः॥२९॥**

अथ 'ये तु शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते स्मृताः।

सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्॥' इत्यनुगीतस्य 'यावत्प्राप्ति परार्थी चेत्' इत्युक्तस्याधिकारिणोऽनन्यसाधारणं विशेषमनुष्ठान-फलप्राप्त्योश्च प्रकारं तत्रैव च तात्पर्येणास्य शास्त्रस्यापवर्गशास्त्रत्वं चतुर्भिर्विवृणोति- ज्ञानी त्विति।

.....  
होता है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग की अवस्था में अवस्थित भक्तों के लिये भी ऐकान्तिक (अनन्यभक्ति) होनी चाहिये। सभी प्रकार के भक्तों में वे चाहे कर्मयोगी हो या ज्ञानयोगी, भगवत्प्रपत्ति-पूर्वक ही होना अनिवार्य है। जब भगवान् की शरणागति यथारूप में की जाती है तो उसमें ऐकान्तिकता होती ही है।

**एवमचिदनुभवात् स्वानुभवाच्च।** इसी तरह अचित्-अनुभव रूप ऐश्वर्यानुभव और कैवल्यानुभवरूप स्वानुभव से विलक्षण ईश्वरानुभव चाहने वाले भक्तों के लिये अन्य कार्यों में संलग्नता से रहित आत्यन्तिकत्व लक्षण से परिपूर्ण भक्ति से युक्त होकर अव्यवधान पूर्वक जो भक्ति की जाती है, उसकी जो प्राप्ति है, उसे मूलकार है- **यावत् प्राप्तिः परार्थी चेत् तदेवात्यन्तमश्नुते।** अर्थात् जब ऐसे साधक अन्य ऐश्वर्य और कैवल्यानुभव न चाहकर परमपुरुष परमात्मा की प्राप्ति ही चाहते हैं, वे भी भलीभाँति प्राप्त कर लेते हैं। वे भगवत्फल के अतिरिक्त अन्य फलों में आसक्ति न रखते हुये विघ्नों से अनुपहत होकर व्यवधानों से रहित हो भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् को प्राप्त कर लेने के बाद तो पुनः संसार में नहीं आते। मूल श्लोक में तद् शब्द का प्रयोग नपुंसकलिंग में इस लिये किया गया है कि उसका विशेष्य शब्द पदम् नपुंसकलिंग है। **पदम्** का तात्पर्य परमपद से है॥२८॥

अगले श्लोक से परमैकान्ती ज्ञानी का लक्षण बता रहे हैं-

**श्लोकार्थः- ज्ञानी तु परमैकान्ती=**जो ज्ञानी भक्त होते हैं, उन्हें परमैकान्ती कहा जाता है और वे, **तदायत्तात्मजीवनः=**भगवान् के अधीन ही अपना जीवन मानते हैं तथा **तत्संश्लेषवियोग-एक-सुखदुःखः=**भगवान् से संश्लेष को एक मात्र सुख और भगवान् से विश्लेष होना एक मात्र दुःख मानते हैं। **तदेकधीः=**केवल भगवच्चिन्तन में नित्य लगने रहने वाले भक्त, **ज्ञानी=**ज्ञानी कहे जाते हैं।

एतेन 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता-७.१८) 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः' (गीता-१०.९) इत्यादिकं स्मारितम्। परमश्चासावेकान्ती चेति परमैकान्ती, एकान्तिषु परम इत्यर्थः। परम एकान्तोऽनन्यत्वमस्यास्तीति वा। न केवलमनन्यदेवताकत्वम्, अपि त्वनन्यप्रयोजनत्वमस्यास्तीत्यर्थः।

अथ ये तु। अनुगीता में कहा गया है कि भगवत्प्राप्ति की इच्छा वाले से भिन्न जो शेष तीन प्रकार के भक्त हैं, वे फलाकांक्षी हैं और सभी च्यवनधर्मा=संसारी हैं किन्तु जो प्रतिबुद्ध अर्थात् ज्ञानी भक्त हैं, वे मोक्ष के भागी हैं। इस अनुगीता के वचनों से कथित ज्ञानी और पूर्वश्लोक यावत्प्राप्ति परार्थी चेत् में उक्त अधिकारियों में अन्यन्यता को लेकर समानता है। विशेष अनुष्ठान और फलप्राप्ति का प्रकार भगवत्प्राप्ति में ही है, इस तात्पर्य से इस गीताशास्त्र को अपवर्गशास्त्र (मोक्षशास्त्र) कहा गया है। इस बात को अब आगे चार श्लोकों से बताते हैं। उनमें से प्रथम श्लोक है- ज्ञानी तु परमैकान्ती इत्यादि।

एतेन। संग्रह के इस श्लोक से गीतोक्त ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् (गीता-७.१८) और मच्चित्ता मद्गतप्राणाः (गीता-१०.९) आदि श्लोकों के अर्थ का स्मरण कराया गया है। उक्त प्रथम श्लोक का भाष्य इस तरह है- आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये सभी भक्त मेरी ही उपासना करते हैं, इस लिये उदार हैं। जो मुझसे कुछ लेते हैं और मुझे सर्वस्व अर्पण कर देते हैं, वे सभी सर्वस्वदानी हैं। ज्ञानी को तो मैं अपना आत्मा ही समझता हूँ। मैं अपनी स्थिति उन्हीं के आधार पर मानता हूँ। उसका कारण यह है कि ये मेरे बिना जीवन धारण करने में असमर्थ होने के कारण केवलमात्र मुझ सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु में स्थित रहते हैं, इस लिए मैं भी उनके बिना जीवन-धारण करने में असमर्थ हूँ, इस लिये मेरे भी वे आत्मा ही हैं। मच्चित्ता मद्गतप्राणाः इस श्लोक का भाष्य है- मच्चित्त=मनको निरन्तर मुझ में प्रविष्ट किये रहने वाले तथा मद्गतप्राण=मेरे अधीन जीवन वाले अर्थात् मेरे बिना जीवन धारण न कर सकने वाले मेरे भक्त अपने-अपने अनुभवा में आये हुए मेरे गुणों को परस्पर समझाते हुए और मेरे दिव्य रमणीय कर्मों का वर्णन करते हुए सन्तुष्ट रहते हैं और उसी में रमण करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं हैं, ऐसे उस मेरे गुण-प्रवचन से वक्तागण सन्तुष्ट हो जाते हैं और श्रोतागण उस असीम अतिशय प्रिय गुणश्रवण से परमानन्द का लाभ प्राप्त करते हुए रमते हैं।



संश्लेषोऽत्र मनोवाक्कायसाध्यतदभिमतशास्त्रचोदितसपर्यामुखेन।  
 वियोगोऽपि तद्विच्छेदः। यदाहुर्महर्षयः—  
 'यं मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते।  
 सा हानिस्तन्महाछिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया॥  
 एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्ते ध्यानवर्जिते।  
 दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम्॥' इति।  
 तस्मिन्नेव धीश्चिन्ता यस्य तदेकधीः॥२९॥

परमश्चासावेकान्ती। यहाँ पर परमैकान्ती शब्द का अर्थ है अतिशय एकान्ती अर्थात् एकान्तियों में अतिशय श्रेष्ठ। कर्मधारयसमास, सप्तमीतत्पुरुषसमास या मतुप्-प्रत्यय के अर्थ में इन्-प्रत्यय करके भी तीनों अवस्थाओं से अत्यन्त ऐकान्तिक भक्त का ही बोध होता है। कर्मधारयसमास करने पर विग्रह होगा—**परमश्चासौ एकान्ती** (जो अत्यन्त एकान्ती)। अथवा **एकान्तिषु परमः** विग्रह करके **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** सूत्र से समास किया जा सकता है। अथवा **परमः एकान्तः=अनन्यत्वम् अस्य अस्ति** विग्रह में **इनि** प्रत्यय से भी **परमैकान्ती** शब्द बन सकता है। इस तरह तीनों स्थितियों में **परमैकान्ती** शब्द का अर्थ बनता है— अनन्यभक्त। अनन्यता का अर्थ है केवल भगवान् का, अन्य का नहीं। **परमैकान्ती** शब्द से यह भी सूचित होता है कि केवल अनन्यदेवताकात्व मात्र न होकर भगवान् के अतिरिक्त जिनके लिये अन्य कोई प्रयोजन ही नहीं है, उनको **परमैकान्ती** कहा गया है। जिसकी साधना का एकमात्र प्रयोजन है— भगवत्प्राप्ति, उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की अभिलाषा भगवान् से नहीं करता, उसे **अनन्यप्रयोजन** कहा जायेगा।

**संश्लेषोऽत्र**। श्लोकोक्त **संश्लेष**-शब्द का तात्पर्य है मन, वचन, शरीर से साध्य भगवान् के अभिमत शास्त्रों से प्रेरित कर्मरूप सेवा, आराधना के द्वारा नित्य भगवान् से जुड़े रहना। इस प्रकार से संश्लेष के विपरीत रहना अर्थात् मन, वचन और शरीर से भगवत्सेवा में न रह पाना **वियोग** (विश्लेष) है। तादृश वियोग को ही विश्लेष या हानि कहते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि परमैकान्ती भक्त निरन्तर से भगवत्-संश्लेष को एक मात्र सुख मानते हैं और विश्लेष को एक मात्र दुःख।

**यदाहुर्महर्षयः**। कुछ पूर्वाचार्य महर्षियों ने हानि के विषय में कहा है—

**भगवद्ध्यानयोगोक्तिवन्दनस्तुतिकीर्तनैः।**

**लब्धात्मा तद्गतप्राणमनोबुद्धीन्द्रियक्रियः॥३०॥**

ध्यानमिहानुचिन्तनम्। योगस्तन्मूलमवलोकनम्, विशिष्ट-  
क्षेत्रादिवर्तिनः परस्याभिगमनं वा। यदाहुः-

‘पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ’।

‘योगस्तु द्विविधः प्रोक्तो बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।

बाह्यं बहिःक्रियापेक्षमान्तरं ध्यानमुच्यते॥’ इति।

.....  
जिस मुहूर्त और जिस क्षण में श्रीहरि वासुदेव भगवान् का चिन्तन नहीं होता, वही हानि, महाछिद्र, भ्रान्ति और विकार है। एक मुहूर्त भी यदि भगवच्चिन्तन से रहित होकर बीत जाय तो इस तरह का भाव होना चाहिये कि जैसे बहुत धनसम्पन्न व्यक्ति किसी डाकू ने लूट लिये जाने पर जितना आक्रन्दन करता हो, उसी तरह की हानि हमारी भी हो गयी है।

मूल के तदेकधीः शब्द का अर्थ बतलाते हुये कहते हैं- केवल भगवान् में चिन्तन जिसका हो, उसे तदेकधीः कहा गया है। इस तरह प्रकृत श्लोक से परमैकान्ती ज्ञानी का लक्षण बताया गया जो तदायत्तजीवनः (भगवान् के अधीन ही अपना जीवन मानने वाला), तत्संश्लेषवियोगैकसुखदुःखः (भगवान् से संश्लेष को एक मात्र सुख और भगवान् से विश्लेष होना एक मात्र दुःख मानने वाला) तथा तदेकधीः (केवल भगवान् के चिन्तन में लगा हुआ) हो॥२९॥

श्लोकार्थः- भगवान् के अनन्य भक्त को चाहिये कि भगवद्-ध्यान-योग-उक्ति-स्तुति-कीर्तनैः=भगवान् के ही ध्यान, योग, गुणानुवाद, वन्दन, स्तुति, कीर्तन आदि से, लब्धात्मा=लब्धात्मा बन जाय। ऐसा होने पर, तद्गत-प्राण-मनः-बुद्धि-इन्द्रिय-क्रियः=उसके प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय और क्रियायें आदि भगवद्-गत हो जाती हैं।

ध्यानमिहानुचिन्तनम्। श्लोकोक्त ध्यान, योग, उक्ति, वन्दन, स्तुति, कीर्तन आदि प्रत्येक शब्दों की व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम ध्यान-शब्द का विवरण देते हैं- ध्यान-शब्द का यहाँ पर निरन्तर भगवच्चिन्तन करना अर्थ है।

योग-शब्द का अर्थ है- ध्यानमूलक भगवान् का निरन्तर दर्शन करना। अथवा भगवान् के विशिष्ट दिव्य क्षेत्रों की यात्रा करना। दिव्यदेशों में भगवान् का

उक्तिः- शुश्रूष्योऽधिकारिभ्यः प्रतिपादनम्। वन्दनम्- त्रिभिः करणैः प्रणाम इत्यर्थः। स्तुतिः- गुणकथनम्। कीर्तनम्- तत्तद्गुणविभव-चेष्टितादिगर्भाणां तदसाधारणनामधेयानां सङ्कीर्तनम्। तैर्लब्धात्मा, अन्यथा अवस्तुभूतमात्मानं मन्यमान इति भावः। प्रशितिलकरणकलेवरादिको भवेदिति वा। प्राणादीनां क्रियायास्तद्गतत्वं तदनुभवाभावे शैथिल्यादिति भाव्यम्। अथवा 'यत्करोषि यदश्नासि' (गीता-९.२७) इति न्यायेन स्वभावार्थ-शास्त्रप्राप्तानां कर्मणां भगवति समर्पणम्।

दर्शन करना। जैसा कि शास्त्रों में भी कहा गया है- 'जिस मनुष्य के पैर भगवान् के दिव्य क्षेत्रों की यात्रा के लिये नहीं चल पड़ते अर्थात् दिव्यदेशों की यात्रा नहीं करते, वे पैर वृक्षजन्म के भागी हैं, जिस तरह से वृक्ष एक ही स्थान पर स्थित रहते हैं, उसी तरह उनके पैर भी हैं।

**योगस्तु द्विविधः प्रोक्तः।** योग दो तरह का बताया गया है- बाह्ययोग और आन्तरयोग। बाहरी क्रिया तीर्थयात्रा, भगवान् के मन्दिरों में मार्जनादि, तुलसी-पुष्प की सेवा आदि विविध प्रकार की सेवा बाह्य योग है और भगवान् का निरन्तर चिन्तन करते रहना आन्तर योग माना जाता है। प्रकृतश्लोक के योग शब्द से दोनों ही प्रकार के योगों का ग्रहण किया जाता है।

**उक्तिः।** भगवान् के गुणानुवाद-श्रवण करने की इच्छा वाले अधिकारी भक्तों को भगवत्तत्त्व एवं भगवान् का गुणानुवाद सुनाना मूलश्लोक में आये उक्ति शब्द का तात्पर्य है।

**वन्दनम्।** मन, वचन और कर्म से भगवान् को निरन्तर नमन करना प्रणाम है। **स्तुतिः।** भगवान् के गुणों का गान करना स्तुति है।

**कीर्तनम्।** भगवान् के गुण, वैभव, लीला आदि से परिपूर्ण भगवान् के असाधारण नामों का निरन्तर उच्चारण करना कीर्तन है।

**तैर्लब्धात्मा।** उक्त भगवद्ध्यान, योग, उक्ति, वन्दन, स्तुति, कीर्तन आदि से युक्त जीवात्मा को लब्धात्मा कहा जाता है और तादृश लब्धात्मा बनने के लिये पूर्णतया प्रयत्नशील रहना चाहिये। यदि ऐसा नहीं करता है तो समझना चाहिये कि वह अवस्तुभूत पदार्थ को ही आत्मा मानकर व्यवहार कर रहा है। अथवा उक्त ध्यानादि का अवसर प्राप्त न होने पर अपनी बहुत बड़ी हानि का अनुभव करना

मनः=सङ्कल्पविकल्पवृत्तिकमन्तःकरणम्। तस्याध्यवसायात्मिका वृत्तिर्बुद्धिः, यद्वा तदेवात्राध्यवसायवृत्तिविशिष्टं बुद्धिरित्युच्यते। यथोक्तं शारीरकभाष्ये-

‘अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदान्मनः एव बुद्ध्यहङ्कारचित्त-शब्दैर्व्यपदिश्यते’ इति। इन्द्रियशब्दोऽत्र गोबलीवर्दन्यायाद् बाह्येन्द्रिय-विषयः॥३०॥

**निजकर्मादि भक्त्यन्तं कुर्यात्प्रीत्यैव कारितः।  
उपायतां परित्यज्य न्यस्येदेवे तु तामभीः॥३१॥**

.....  
चाहिये। भगवान् के अनुभव के बिना भगवान् के ऐकान्तिक भक्त के करण-कलेवर आदि अत्यन्त शिथिल हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में आ जाते हैं। ऐसे भक्तों को ही लब्धात्मा कहा जाता है।

**प्राणादीनां क्रियायाः।** श्लोकोक्त तद्गतप्राण आदि का तात्पर्य है कि प्राण, मन, बुद्धि आदि की क्रियायें भगवान् के अनुभव के बिना अत्यन्त शिथिल हो जाती हैं, ऐसी अवस्था में रहना। यही लब्धात्मा साधक के लक्षण हैं। अथवा यत्करोषि यदश्नासि आदि गीतोक्त वचन के अनुसार जो भी अपने स्वभाव के अनुकूल प्राप्त पदार्थ और शास्त्रविहित कर्मों का आचरण भगवत्समर्पणपूर्वक करना, सभी कर्मों को भगवान् में समर्पित कर देना भी तद्गतप्राण (लब्धात्मा) होना है।

**मनः=सङ्कल्पविकल्पवृत्तिकमन्तःकरणम्।** श्लोकोक्त मनस्-शब्द का अर्थ है- संकल्प और विकल्प रूप वृत्ति वाला अन्तःकरण। उक्त संकल्प और विकल्प को निश्चयात्मक रूप देने वाली वृत्ति से युक्त वस्तु को बुद्धि कहते हैं। श्रीभाष्यकार ने भी श्रीभाष्य में कहा है- अध्यवसाय, अभिमान, चिन्ता आदि भेदों से मन ही बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि शब्दों से व्यवहृत होता है। अध्यवसाय से युक्त मन को बुद्धि, अभिमान से युक्त मन को अहंकार और चिन्तन से युक्त मन को चित्त कहा जाता है।

श्लोकोक्त इन्द्रिय-शब्द का तात्पर्य यहाँ गोबलीवर्दन्याय से बाह्य-इन्द्रियों का विषय है॥३०॥

एवंविधस्याधिकारिणः 'सततं कीर्तयन्तो माम्' (गीता-९.१४) इत्युक्तप्रक्रियया वर्णाश्रमधर्माणामपि लोपः स्यादित्यत्राह- निजकर्मति। नित्यदास्यैकस्वभावस्य मुक्तस्येवास्यापि तत्परिचरणं तदाज्ञानुवर्तनप्रीत्यैव यथाशास्त्रं यथाधिकारं यथावसरं च सर्वं घटते, अन्यथा 'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु' इत्यादिभिर्भगवदर्चनादावप्य- नधिकारप्रसङ्गात्। तस्माद्योग्यतासिद्धयर्थं लब्धांशस्य शैथिल्यपरिहारार्थम् उत्तरोत्तरोपचयार्थं सुदृढसिद्धोपायस्यापि स्वानुष्ठानेन परप्रवर्तनरूप- भगवदाज्ञानुपालनार्थमवश्यकर्तव्यानामपि कर्मणां विधिपरामर्शमन्तरेण प्रियतमसृहृत्पुत्राद्युपलालनवत्प्रीतिरेव ज्ञानिनः प्रयोजिकेति भावः।

.....

श्लोकार्थः- भक्त्यन्तम्=भक्तिपर्यन्त, निजकर्मादि=शास्त्रविहित वर्णाश्रमोचित सभी अपने लिये निर्धारित अनुष्ठानों को, प्रीत्या एव कारितः=भगवान् के द्वारा प्रीतिपूर्वक कराया जा रहा है, ऐसा समझ कर करना चाहिये, और, उपायतां परित्यज्य=उन कर्मों में उपाय बुद्धि का त्याग करके, ताम् देवे न्यस्येद्=समस्त कर्मों को (उपाय भी) भगवान् में ही समर्पित करे अर्थात् कर्मादि में उपायबुद्धि त्यागकर भगवान् को ही उपाय माने। भगवान् को ही उपाय मानते हुये, अभीः=निर्भय होकर भगवान् की उपासना करनी चाहिये॥

एवंविधस्याधिकारिणः। भगवान् में अनन्यतापूर्ण भक्ति के विषय में अधिकारपूर्ण भक्तों के लिये गीता में कहा गया कि 'निरन्तर मेरा ही कीर्तन करते रहे'। इस तरह केवल भगवच्चिन्तन करने पर तो कहीं वर्णाश्रमधर्म का लोप तो नहीं हो जायेगा? इस आशंका को दूर करने के लिये मूल में कहा गया- निजकर्मादि। अर्थात् शास्त्रविहित निजकर्मों का सम्पादन करते हुये भगवद्भक्ति करनी चाहिये। केवल भगवान् का दास्य करना जिनका स्वभाव है, ऐसे मुक्तों की तरह रहने वाले भक्तों को भी चाहिये कि भगवान् की आज्ञा के रूप में विद्यमान शास्त्रविहित कर्मों को भगवान् की प्रीति के लिये ही अपने अधिकार के अनुसार और अवसर के अनुसार करते रहने से भगवदाज्ञापालन पूर्वक भक्ति करना ही समुचित होता है, न कि शास्त्राज्ञा का उल्लंघन करके। जो भगवान् की प्रसन्नता के लिये भजन-कीर्तन तो करता है किन्तु भगवान् की आज्ञा के रूप में विद्यमान शास्त्रों द्वारा विहित वर्णाश्रम की इतिकर्तव्यता का उल्लंघन करता है, उसके विषय

तथा च शिष्यते-

‘यथा युवानं राजानं यथा च मदहस्तिनम्।

यथा च पुत्रं दयितं तथैवोपचरेद्धरिम्॥’ इति।

‘यथा प्रियातिथिं प्राप्तं भगवन्तं तथार्चयेत्॥’ इति संहितान्तरम्।

एवकाराभिप्रेतमन्यदपि विवृणोति- उपायतामिति। मुक्तव्यापारन्यायेन स्वयं स्वादुत्वात् क्षणिकस्य कालान्तरभाविफलसाधनत्वानुपपत्तिदर्शनाच्च नास्य स्वव्यापारे मोक्षोपायताबुद्धिरपि स्यादिति भावः।

.....  
में भगवान् ने ही कहा है कि वह मेरा द्रोही है। अतः शास्त्रविहित कर्मों का आचरण करता हुआ कीर्तन, वन्दन आदि करना चाहिये।

**यथाशास्त्रम्।** यथा अवसर और यथा शास्त्रोक्त अधिकार, अपने लिये विहित कर्मों का अनुष्ठान अनिवार्य रूप से करना चाहिये। अन्यथा ‘सन्ध्यावन्दनादि कर्मों से रहित व्यक्ति सर्वकर्मों में अयोग्य होता है’ इस नियम के अनुसार भगवान् की अर्चना-सेवा आदि में ऐसे व्यक्ति का अनधिकार होने का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः भगवत्कर्त्तव्य में योग्यतासिद्धि के लिये और प्राप्त सेवा में शिथिलता न आये और लब्धात्मत्व की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती रहे, इसके लिये शास्त्रविहित कर्मों के साथ सुदृढ सिद्धोपाय का भी अनुष्ठान करते रहना चाहिये। अपने अनुष्ठान से परप्रवर्तन होना चाहिये अर्थात् ऐसा आचरण करे कि उसके आचरणों से सीखकर अन्य लोग भी भगवदाज्ञारूप शास्त्रविहित कर्मों के अनुपालन में प्रवृत्त हो जायें। अतः स्वानुष्ठान से परप्रवर्तनरूप भगवद् आज्ञा के अनुपालनार्थ अवश्य करणीय कर्तव्य-कर्मों का मीन-मेख निकाले बिना ही अत्यन्त प्रिय मान कर अनुष्ठान करे और जिस तरह प्रियतम, सुहृत्, पुत्र आदि का लालन किया जाता है, उसी तरह से भगवत्प्रीति होनी चाहिये। ऐसी शास्त्राज्ञापालनपूर्वक की हुयी भगवत्प्रीति ही ज्ञानियों के लिये प्रयोजिका, उत्तम प्रीति होती है।

**तथा च शिष्यते।** जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है- जिस तरह से युवा राजा की सेवा की जाती है, जिस तरह से मदपूर्ण हस्ती की सेवा की जाती है, जिस तरह अतिशय प्रिय पुत्र से व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार और उससे भी बहुत अधिक रीति से भगवान् की सेवा करनी चाहिये। जिस तरह अतिशय प्रिय अतिथि के प्राप्त होने पर उनका सत्कार होता है, उससे भी अधिक भगवान् की अर्चना करनी चाहिये। इत्यादि वार्ता विविध संहिताओं में कही गयी है। लोक

अन्ततस्तैस्तैराराधितो भगवानेव हि सर्वत्रोपायः, न पुनः क्षणिकं तत्क्रियास्वरूपं तत्साध्यं किञ्चित्तत्प्रीत्यतिरिक्तमप्रामाणिकमपूर्वादिकं वा।

अतस्तस्मिन्नेव 'मामेकं शरणं ब्रज' (गीता-१८.६६) इति वक्तुर्युपायताबुद्धिः कार्येत्याह- न्यस्येदिति।

.....  
में तो एक व्यक्ति के साथ हमारा एक ही सम्बन्ध होता है किन्तु भगवान् के साथ हमारे सर्वविध सम्बन्ध हैं। वे ही माता, पिता, बन्धु, पुत्र, मित्र आदि सभी प्रकार के एक मात्र सम्बन्धी हैं। ऐसे सर्वविधसम्बन्धी परमात्मा की सेवा तदनुरूप ही होनी चाहिये।

**एवकाराभिप्रेतमन्यदपि विवृणोति- उपायतामिति।** मूलोक्त प्रीत्या एव के एव-शब्द से अभिप्रेत अन्य विशेष विषयों को उपस्थापित करते हुये कहते हैं- **उपायतां परित्यज्य।** निजकर्मों में उपायता-बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। निजकर्म का तात्पर्य है नित्य-नैमित्तिक कर्मों के साथ शास्त्रविहित स्ववर्णाश्रम कर्म। निजकर्मों में उपायता बुद्धि के त्याग का तात्पर्य यह है कि मेरे द्वारा क्रियमाण कर्म भगवत्प्राप्ति के उपाय हैं, ऐसी बुद्धि का त्याग करना। अर्थात् स्वकर्म के प्रति भगवत्प्राप्तिसम्बन्धी उपायबुद्धि न रखना। मुक्त जन भगवदनुभव को अत्यन्त स्वादु मानते हैं। क्षणिक और कालान्तर में मिलने वाले फल का साधनभूत कर्मों की उपेक्षा कर देनी चाहिये। शास्त्रों में देखा जाता है कि वर्णाश्रम धर्मानुसार के कर्मों को मोक्ष का उपाय बताया गया है किन्तु भगवदाज्ञा मानकर ही उनका आचरण होना चाहिये, उपायबुद्धि से नहीं।

**अन्ततस्तैस्तैराराधितः।** अन्ततः उन सदाचरणों के द्वारा आराधित भगवान् ही सर्वत्र उपाय हैं, न कि क्षणिक तत्तत् क्रिया का स्वरूप और उन क्रियाओं से साध्य और कुछ। जो कुछ क्रियायें की जाती हैं, वे उपायरूप न होकर भगवान् के प्रीति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मीमांसकों के द्वारा मान्य अप्रामाणिक अपूर्व आदि भी उपाय नहीं हैं। मीमांसक अपूर्व को फलसाधक उपाय मानते हैं, उसका वेदान्त में बहुत खण्डन किया गया है।

**अतस्तस्मिन्नेव।** अतः **मामेकं शरणं ब्रज** (केवल मेरी शरण में आओ) यह गीता का अन्तिम उपदेश है। उक्त वचन कहने वाले भगवान् श्रीकृष्ण में ही उपायताबुद्धि रखनी चाहिये अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिए कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि को उपाय न मानकर भगवान् को उपाय मानना चाहिये। इसी बात को प्रकट करने के

अनाश्रितानां बन्धनमाश्रितानां मोचनं च भगवतः स्वमाहात्म्या-  
नुगुणलीलयैवेत्यभिप्रायेणाह- देव इति। 'तं ह वै देवम्' इति शरण्यविषय-  
श्रुतिसूचनार्थमत्र देवशब्दः। 'अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यादिगुणनिधौ'  
'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' 'सकृदेव प्रपन्नाय' 'अपि चेत्सुदुराचारः.....क्षिप्रं  
भवति धर्मात्मा' 'मन्मना भव मद्भक्तः' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इति  
वक्तारि तस्मिन्नेवाशरणशरण्ये स्वयमुपायतयावस्थिते स्वापराध-  
तत्स्वातन्त्र्यतत्सङ्कल्पकिङ्करहरिण्यगर्भरुद्रेन्द्रादिक्षुद्रेश्वरादिनिमित्तभयं न  
कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाह- अभीरिति॥३१॥

.....  
लिये मूल में कहा- न्यस्येद् देवे। सब कुछ भगवान् में ही समर्पण करना चाहिये।  
आत्मा का समर्पण भी भगवान् में ही करनी चाहिये। अनाश्रितों को बन्धन और  
आश्रितों को मुक्ति देना भगवान् की अपनी महिमा के अनुगुण लीला है, इस बात  
को दर्शाने के लिये मूल में देव-शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर 'तं ह  
दैवम् ( तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ) आदि श्रुतियों में  
भगवान् शरण्य है और यह बात श्रुतिसिद्ध है, इस बात का प्रदर्शन देव-शब्द के  
द्वारा होता है। कारुण्य, अपार-सौशील्य, अपार-वात्सल्य, अपार-औदार्य आदि के  
गुणनिधिरूप भगवान् जो विविध शास्त्रों में स्वयं यह कहते हैं कि मित्रभावेन  
सम्प्राप्तम् ( जो मित्रभाव से मेरे पास आता है, उसे मैं कभी नहीं त्यागता, सकृदेव  
प्रपन्नाय ( जो एक बार भी मैं आपका हूँ, ऐसा कहते हुये शरणागति करता है, मैं  
उसे अभय प्रदान करता हूँ ), अपि चेत्सुदुराचारः.....क्षिप्रं भवति धर्मात्मा  
( यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु  
ही माना जाने योग्य है, क्योंकि वह ठीक-ठीक निश्चय वाला है। वह शीघ्र ही  
धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तुम  
प्रतिज्ञा करो को मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ), मन्मना भव मद्भक्तः ( मुझ में मन  
वाला बनो, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी ही पूजा करो, और मुझको ही नमस्कार करो,  
फिर तुम मुझको ही प्राप्त हो जाओगे। यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि  
तुम मेरे अतिशय प्रिय हो ), सर्वधर्मान् परित्यज्य ( सब धर्मों का उपायरूप से  
परित्याग करके मुझ एक की ही शरण में आओ, मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर  
दूँगा, शोक मत करो ) इत्यादि। उक्त वचनों के वक्ता, अशरणशरण्य, स्वयम्  
उपायतया विद्यमान भगवान् के रहते हुये अपने अपराधों से और अपने स्वातन्त्र्य



## एकान्तात्यन्तदास्यैकरतिस्तत्पदमाप्नुयात्। तत्प्रधानमिदं शास्त्रमिति गीतार्थसङ्ग्रहः॥३२॥

एवं स्थितस्य यथामनोरथमन्तरायानुपहतस्य फलसिद्धिमाह-  
एकान्तेति। उक्तञ्च परमैकान्तिनां परिचरणप्रकारमनुक्रम्य तस्य निर्विघ्नत्वं  
श्रीपौष्करे-

‘प्रवृत्तिकालादारभ्य आत्मलाभावसानिकम्।  
यत्रावकाशो विघ्नानां विद्यते न कदाचन॥’ इति।  
एतदेवाभिप्रेत्योक्तं श्रीसात्वते-  
‘सङ्कल्पादेव भगवान् तत्त्वतो भावितात्मनाम्।  
व्रतान्तमखिलं कालं सेचयत्यमृतेन तु॥  
ज्ञात्वैव बन्धं मर्त्येन भवितव्यं सदैव हि।  
प्राप्तये सर्वकामानां संसारभयभीरुणा॥’ इति।

.....  
से, भगवत्संकल्प के अधीन कार्य करने वाले उनके ही किङ्कर हिरण्यगर्भ, रुद्र, इन्द्र आदि क्षुद्रेश्वरों से होने वाले भय से डरने की आवश्यकता नहीं है, इस अभिप्राय से मूलकार ने कहा है- अभीः। भी-शब्द का अर्थ भय है और उसके साथ नञ्समास करके निष्पन्न अभी-शब्द का अर्थ भयरहित होना है॥३१॥

श्लोकार्थः- एकान्त-अत्यन्त-दास्य-एकरतिः=एकान्त, अत्यन्त दास्य मात्र एक-रति वाला भक्त, तत्पदम् आप्नुयात्=अवश्य ही भगवान् का पद प्राप्त कर लेता है, तत्प्रधानम् इदं शास्त्रम्=इस विषय को प्रधानता से बताने वाला यह गीताशास्त्र है। इति=यह ही, गीतार्थसंग्रहः=गीता का सार है। इस तरह सारसंग्रह के रूप में गीतार्थसंग्रह पूर्ण हो जाता है।

एवं स्थितस्य। श्रीमद्भगवद्गीता के उक्त सारसंग्रह के अनुसार अवस्थित भक्त के मनोरथों के अनुसार सभी कर्म विघ्नों से रहित हो जाते हैं। ऐसी भक्ति का फल अब सार के रूप में मूल में बता रहे हैं- एकान्त आदि शब्दों से। श्रीपौष्करसंहिता में बताया भी गया है कि जो परमैकान्ती भक्त हैं, उनके लिये भगवत्सेवा-प्रकार के अनुरूप उसके सभी कार्य निर्विघ्न होते हैं। जैसे कि- प्रवृत्तिकाल से लेकर आत्मलाभ की प्राप्ति पर्यन्त वहाँ विघ्नों का अवकाश ही नहीं

सारं फल्गुनसारथीयवचसां श्रीयामुनेयोद्धृतं  
 विस्पष्टैरिति वेङ्कटेश्वरकविव्याचष्ट भाष्याक्षरैः।  
 यद्वादिषु कुदृष्टिबाह्यकुहनाकोलाहलास्कन्दिभिः  
 जङ्घालैर्जयघोषणाघणघणैर्विद्राणनिद्रा दिशः॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य  
 वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीगीतार्थसङ्ग्रहरक्षा सम्पूर्णा।



कवितार्किकसिंहाय कल्याणगुणशालिने।  
 श्रीमते वेङ्कटेशाय वेदान्तगुरवे नमः॥

.....

इत्थमेव सत्त्वनिष्ठसम्प्रदायपरम्परागतः समीचीनो गीतार्थः। गीतार्थसंग्रह में जो विषय उपस्थापित किया गया, वह ही सत्त्वनिष्ठ सम्प्रदायानुगुण परम्परा से प्राप्त समीचीन गीतार्थ है। अन्य मतावलम्बी कुदृष्टियों के द्वारा प्रतिपादित गीतार्थ समीचीन नहीं है। अपनी योगमहिमा के द्वारा चुल्लू में भर लिया है अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान कर लिया है परमपुरुष की दोनों विभूतियों को जिन्होंने, ऐसे नाथमुनि स्वामी जी की आज्ञा का अनुसरण करने वाले श्रीराममिश्रस्वामी जी की सन्निधि से अनेक शास्त्रों का ज्ञान करके हमने बहुत बार सुने हुये और बहुत अभ्यास किये हुये भगवद्-गीता के अर्थ-विस्तार का संग्रह किया है। यह मुमुक्षुजनों के द्वारा सावधान होकर संग्रह करने योग्य है, ऐसा भाव है- इति गीतार्थसंग्रहः पद का।

सारं फल्गुनसारथीयवचसाम्। यह गीतार्थसंग्रह अर्जुन के सारथी बने भगवान् श्रीकृष्ण के वचनमृत का सार है और श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी महाराज ने गीतार्थसंग्रह के रूप उद्धृत किया है। मुझ वेंकटेश्वर कवि (वेदान्तदेशिक) के द्वारा भाष्यानुसार स्पष्ट शब्दों में इसकी व्याख्या गीतार्थसंग्रहरक्षा नाम से की गयी है। कुदृष्टियों के बाह्य अज्ञान-अन्धकार रूप कोलाहलपूर्ण वादों को आन्दोलित करके और उन पर विजय पाने के कारण जय-जय की घोषणाओं से परिपूर्ण सिद्धान्त तर्क के द्वारा सभी दिशाये उज्ज्वलित हो जाती हैं।

श्रीमद्गीतार्थसंग्रह और उसकी व्याख्या गीतार्थसंग्रहसंग्रहरक्षा का  
 गोविन्दाचार्य द्वारा हिन्दी में अनुवाद सम्पन्न हुआ।



## श्रीमद्गीतार्थसङ्ग्रहः

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः। नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः॥१॥  
 ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगलक्ष्ये सुसंस्कृते। आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थं पूर्वषट्केन चोदितः॥२॥  
 मध्यमे भगवत्तत्त्वयाथात्म्यावाप्तिसिद्ध्ये। ज्ञानकर्माभिनिर्वृत्यो भक्तियोगः प्रकीर्तितः॥३॥  
 प्रधानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वरविवेचनम्। कर्मधीर्भक्तिरित्यादिः पूर्वशेषोऽन्तिमोदितः॥४॥  
 अस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम्। पार्थ प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्॥५॥  
 नित्यात्मासङ्गकर्महागोचरा साङ्ख्ययोगधीः। द्वितीये स्थितधीलक्षा प्रोक्ता तन्मोहशान्तये॥६॥  
 अशक्त्या लोकरक्षायै गुणेष्वारोप्य कर्तृताम्। सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता॥७॥  
 प्रसङ्गात्स्वस्वभावांक्तिः कर्मणोऽकर्मतास्य च। भेदा ज्ञानस्य माहात्म्यं चतुर्थ्याध्याय उच्यते॥८॥  
 कर्मयोगस्य सौकर्यं शैघ्र्यं काश्चन तद्विधाः। ब्रह्मज्ञानप्रकारश्च पञ्चमाध्याय उच्यते॥९॥  
 योगाभ्यासविधियोगी चतुर्था योगसाधनम्। योगसिद्धिः स्वयोगस्य पारम्यं षष्ठ उच्यते॥१०॥  
 स्वयाथात्म्यं प्रकृत्यास्य तिरोधिश्शरणागतिः। भक्तभेदः प्रबुद्धस्य श्रेष्ठ्यं सप्तम उच्यते॥११॥  
 ऐश्वर्याक्षरयाथात्म्यभगवच्छरणार्थिनाम्। वेद्योपादेयभावानामष्टमे भेद उच्यते॥१२॥  
 स्वमाहात्म्यं मनुष्यत्वे परत्वं च महात्मनाम्। विशेषे नवमे योगो भक्तिरूपः प्रकीर्तितः॥१३॥  
 स्वकल्याणगुणानन्त्यकृत्स्नस्वाधीनतामतिः। भक्त्युत्पत्तिविवृद्धयर्था विस्तीर्णा दशमोदिता॥१४॥  
 एकादशे स्वयाथात्म्यसाक्षात्कारावलोकनम्। दत्तमुक्तं विदिप्राप्त्योर्भक्त्येकोपायता तथा॥१५॥  
 भक्तेः श्रेष्ठ्यमुपायोक्तिरशक्तस्यात्मनिष्ठता। तत्प्रकारास्त्वितिप्रीतिर्भक्ते द्वादश उच्यते॥१६॥  
 देहस्वरूपमात्माप्तिहेतुरात्मविशोधनम्। बन्धहेतुर्विवेकश्च त्रयोदश उदीर्यते॥१७॥  
 गुणबन्धविधा तेषां कर्तृत्वं तन्निवर्तनम्। गतित्रयस्वमूलत्वं चतुर्दश उदीर्यते॥१८॥  
 अचिन्मिश्राद्विशुद्धाच्च चेतनात्पुरुषोत्तमः। व्यापनाद्भरणात्स्वाम्यादन्यः पञ्चदशोदितः॥१९॥  
 देवासुरविभागोक्तिपूर्विका शास्त्रवश्यता। तत्त्वानुष्ठानविज्ञानस्थेमे षोडश उच्यते॥२०॥  
 अशास्त्रमासुरं कृत्स्नं शास्त्रीयं गुणतः पृथक्। लक्षणं शास्त्रसिद्धस्य त्रिधा सप्तदशोदितम्॥२१॥  
 ईश्वरे कर्तृताबुद्धिः सत्त्वोपादेयतान्तिमे। स्वकर्मपरिणामश्च शास्त्रसाराथ उच्यते॥२२॥  
 कर्मयोगस्तपस्तीर्थदानयज्ञादिसेवनम्। ज्ञानयोगो जितस्वान्तैः परिशुद्धात्मनि स्थितिः॥२३॥  
 भक्तियोगः परैकान्तप्रीत्या ध्यानादिषु स्थितिः। त्रयाणामपि योगानां त्रिभिरन्योन्यसङ्गमः॥२४॥  
 नित्यनैमित्तिकानां च पराराधनरूपिणाम्। आत्मदृष्टेस्त्रयोऽप्येते योगद्वारेण साधकाः॥२५॥  
 निरस्तनिखिलाज्ञानो दृष्ट्वात्मानं परानुगम्। प्रतिलभ्य परां भक्तिं तयैवान्नोति तत्पदम्॥२६॥  
 भक्तियोगस्तदर्थी चेत्समग्रैश्वर्यसाधकः। आत्मारथी चेत्त्रयोऽप्येते तत्कैवल्यस्य साधकाः॥२७॥  
 ऐकान्त्यं भगवत्प्रेषां समानमधिकारिणाम्। यावत्प्राप्ति परार्थी चेत्तदेवात्यन्तमश्नुते॥२८॥  
 ज्ञानी तु परमैकान्ती तदायतात्मजीवनः। तत्संश्लेषवियोगैकसुखदुःखस्तदेकधीः॥२९॥  
 भगवद्धान्ययोगोक्तिवन्दनस्तुतिकीर्तनैः। लब्धात्मा तद्गतप्राणमनोबुद्धीन्द्रियक्रियः॥३०॥  
 निजकर्मदि भक्त्यन्तं कुर्यात्प्रीत्यैव कारितः। उपायतां परित्यज्य न्यस्येद्देवे तु तामभीः॥३१॥  
 एकान्तात्यन्तदास्यैकरतिस्तत्पदमाप्नुयात्। तत्प्रधानमिदं शास्त्रमिति गीतार्थसङ्ग्रहः॥३२॥

इति श्रीछामुनम्निप्रणीतो गीतार्थसङ्ग्रहः।

## श्रीरामानुज-सहस्राब्दि:

कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं प्रपत्ति द्वारा परमात्मा प्रसन्न होकर मोक्षप्रदान करते हैं और वे अखिलकोटिब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीमन्नारायण ही मोक्षदाता हैं। इस सिद्धान्त को वेदोपनिषत्प्रमाणों से सिद्ध करते हुए श्रीविशिष्टाद्वैत (सविशेषाद्वैत) सिद्धान्त की स्थापना करने वाले और वेदार्थसंग्रह, श्रीभाष्य, गीताभाष्य, गद्यत्रय आदि विशिष्ट ग्रन्थों के प्रणेता जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य स्वामी जी का अवतार-शताब्दि-महोत्सव विक्रम संवत् २०७३ तदनुसार सन् 2016-17 में मनाया जायेगा। यह दास जनों का परम सौभाग्य है। श्रीरामानुजस्वामी जी ने वेदार्थसंग्रह में यह सिद्ध किया है कि उपनिषदों की भेदबोधिका और अभेदबोधिका श्रुतियों का समन्वय सविशेषाद्वैत (विशिष्टाद्वैत) सिद्धान्त में ही पूर्णतया होता है। अतः इस मत के अनुसार समस्त वेद और वेदोपबृंहण करने वाले सभी शास्त्र ईश्वर के विषय में प्रमाण हैं। श्रीस्वामीजी द्वारा प्रवर्धित उक्त सिद्धान्त का पठन-पाठन सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए सर्वप्रथम शब्दशास्त्र (संस्कृतव्याकरण) का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। इसी विषय को हृदयंगम करके दिल्ली-स्थित श्रीनिवास संस्कृत विद्यापीठम् में व्याकरण, न्याय, काव्य आदि के साथ यतीन्द्रमतदीपिका, वेदार्थसंग्रह, वेदान्तसार, वेदान्तदीप आदि ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन सुचारु रूप से चल रहा है। शीघ्र ही श्रीभाष्यम् का अध्ययन भी प्रारम्भ होगा। इस प्रकार श्रीरामानुजसहस्राब्दि तक सैंकड़ों विशिष्टाद्वैत-वेदान्ती विद्वान् तैयार हो जायें, एतदर्थ प्रयास चल रहा है साथ ही श्रीविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के ग्रन्थों का लोकभाषा में अनुवाद (व्याख्या) और प्रकाशन का कार्य भी भगवत्कृपा से चल ही रहा है। इसी क्रम पूर्वोक्त सभी ग्रन्थों का हिन्दीभाषा में अनुवाद भी किया जा चुका है और इस श्रृंखला में गीतार्थसंग्रह: का प्रकाशन प्रथम प्रयास है। यद्यपि शास्त्रों का ज्ञान संस्कृतभाषा में प्रौढ पाण्डित्य के बिना सम्भव नहीं है तथापि हिन्दी में व्याख्या होने पर आशा है कि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ जिज्ञासुओं को भी इससे कुछ लाभ होगा तथा विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के जिज्ञासु विद्यार्थी भी लाभान्वित हो सकेंगे। श्रीरामानुज-सहस्राब्दि महोत्सव मनाने की श्रृंखला में दास का यह छोटा सा कैक्य सभी भागवतों को स्वीकार्य हो, यह प्रार्थना है।

श्रीमद्भगवद्भागवताचार्यविधेय:-

गोविन्दनारायः

श्रीरामानुज-जयन्ती २०६९

१५ मई २०१२

श्री गोविन्दाचार्य जी ने संस्कृत महाविद्यालय में व्याकरण-विभागाध्यक्ष पद पर सेवा करते हुए संस्कृत और संस्कृति की साम्प्रतिक स्थिति को देखते हुए स्वेच्छा से त्याग-पत्र देकर वेद, वेदाङ्ग, वेदान्त, दर्शन आदि प्राच्यविद्याओं के हजार से अधिक प्रकाण्ड विद्वान बनाने का लक्ष्य लेकर श्रीनिवास सेवार्थ न्यास एवं श्रीनिवास संस्कृत विद्यापीठम् के माध्यम से अपना तन, मन, धन संस्कृत और भारतीय-संस्कृति के प्रति समर्पित करके दिल्ली, चण्डीगढ़ आदि 10 स्थानों में शैक्षणिक संस्थाएं सञ्चालित करते हुए 400 से ज्यादा छात्रों को आवास, भोजन, उपचार आदि व्यवस्था सहित निःशुल्क शिक्षा दे रहे हैं। श्री गुरु जी ने शिक्षा, सेवा और साधना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है।

**गोविन्दाचार्य जी की कृतियाँ -**

- लघुसिद्धान्तकौमुदी (विस्तृत हिन्दी व्याख्या)
- वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (विस्तृत हिन्दी व्याख्या)
- ऋजुसिद्धान्तकौमुदी (मूल एवं विस्तृत व्याख्या)
- सारसिद्धान्तकौमुदी (विस्तृत हिन्दी व्याख्या)
- तर्कसङ्ग्रह (संस्कृत-हिन्दी व्याख्या)
- सुदर्शनानुष्ठानम् (संस्कृत-हिन्दी टीका एवं पूजा, हवन विधि सहित)
- गीतार्थसंग्रह (हिन्दी व्याख्या)
- वेदान्तसार। रामानुजाचार्य (विस्तृत हिन्दी व्याख्या)

# योगवासिष्ठः (महारामायणम्)

भाषानुवादकारः

पण्डित श्रीकृष्णपन्तशास्त्री  
पूर्वअध्यक्ष, अच्युतग्रन्थमाला-काशी



सम्पादको

पण्डित श्रीकृष्णपन्तशास्त्री  
पण्डित श्रीमूलशङ्करशास्त्री

भूमिकालेखकः संशोधकश्च

प्रोफेसर मदनमोहन अग्रवाल

योगवासिष्ठ वेदान्तशास्त्र के मुख्य प्रमाणित ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी = उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीतादि के समान संस्कृत भाषा में अद्वैतवेदान्त का बृहत् ग्रन्थ है। बृहद् योगवासिष्ठ में लगभग बत्तीस हजार (32000) या तैंतीस हजार (33000) श्लोक हैं। यह ग्रन्थ योगवासिष्ठमहारामायण, महारामायण, आर्षरामायण, वासिष्ठरामायण, ज्ञानवासिष्ठ और वासिष्ठ आदि नामों से भी ज्ञात है। यह ग्रन्थ अत्यन्त आदरणीय है, क्योंकि इसमें किसी सम्प्रदायविशेष का उल्लेख नहीं है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसका पाठ, मूल तथा भाषानुवाद में, चिरकाल से होता चला आ रहा है। जो महत्त्व भगवद् भक्तों के लिए भागवतपुराण और रामचरितमानस का है, तथा कर्मयोगियों के लिए भगवद्गीता का है, वही महत्त्व ज्ञानियों के लिए योगवासिष्ठ का है। सहस्रों स्त्री-पुरुष-राजा से उद्धृत-इस अद्भुत ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतिदिन के जीवन में आनन्द और शान्ति प्राप्त करते रहे हैं। इस ग्रन्थ में प्रायः सभी प्रकार के पाठकों के अनुयोग के लिए सामग्री प्रस्तुत है। जहाँ अबोध बालक भी इसकी कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होते हैं, वहाँ बड़े-बड़े विद्वानों के लिए गहनतम दार्शनिक सिद्धान्तों का इसमें प्रतिपादन है। ऐसा कोई भी प्रश्न नहीं है, जिसका समाधान इसमें प्राप्त न हो। यह ऐसा अद्भुत ग्रन्थ है कि इसमें काव्य, उपाख्यान तथा दर्शन—सभी का आनन्द वर्तमान है। यह सब श्रुतियों का सार एवं माण्डूक्यकारिका का वार्तिक = व्याख्यान ग्रन्थ है। महर्षि वसिष्ठ ने स्वयं कहा है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्त्वचित् । इमं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः ॥

योगवासिष्ठ के प्रस्तुत संस्करण में संस्कृत के प्रत्येक श्लोकों की अत्यन्त सरल हिन्दी भाषा में सुन्दर विवेचना की गई है, जो इसकी प्रमुख विशेषता है। कोई भी व्यक्ति, जो संस्कृत से सर्वथा अपरिचित है, इसका सरलतापूर्वक अध्ययन कर योगवासिष्ठ के गूढ़दार्शनिक स्थलों को हृदयंगम कर सकेगा और उसको मुक्तिलाभ के लिए अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं होगी। मोक्षप्राप्ति के उपाय ढूँढने की चेष्टा में व्यक्ति को आत्मानुभव होता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से व्यक्ति के सम्पूर्ण क्लेशों-दुःखों का अन्त होकर उसके हृदय में अपूर्व शान्ति प्राप्त होगी। अध्ययनार्थी सांसारिक सुख-दुःख की परिधि से बाहर निकलकर परम आनन्द का अनुभव करेगा। मनोयोगपूर्वक अध्ययन करनेवाले निश्चय ही इस जीवन में ब्रह्मज्ञान कर मुक्ति को प्राप्त करेंगे। यह ग्रन्थ ज्ञान का भण्डार है। वेदान्त के ग्रन्थों में यह चमकता हुआ रत्न है। मुमुक्षु के लिए यह ग्रन्थ नित्य स्वाध्याय-योग्य है। ग्रन्थ की मौलिक उपादेयता की दृष्टि से आशा की जा सकती है कि वेदान्त के सच्चे जिज्ञासुओं में इसका विशेष प्रचार-प्रसार होगा।